उपहार

लेखक की ओर से—

वेद आर्य-साहित्यकी अक्षय निधि हैं। विद्वानोंका ऐसा विश्वास है कि संसारकी कोई प्राचीनतम पुस्तक वेदोंके समान सरल एवं सुबोध शैलीमें जीवनके चरमतत्वोंकी सत्य व्याख्या नहीं करती। अनेक प्राच्य-पाश्चात्य मस्तिष्कोंने वेदोंका रहस्य खोजनेका प्रयत्न किया है। वेदोंको परमेश्वरका गुणगान करते-करते अन्तमें 'नेति-नेति' कहना पड़ा था। हमें वेदोंके रहस्योद्घाटनार्थ अथक परिश्रम कर अन्तमें 'नेति-नेति' की पुनरुक्ति करनेके लिये विवश हो जाना पड़ता है।

रुचि-भेदके अनुसार विभिन्न शास्त्रज्ञ वेदोंसे सामग्री एकत्र करते हैं। भक्त उन्हें प्रार्थना-गीत समझता है, कर्मकाण्डी कर्मकाण्डका उपदेष्टा मानता है, वैज्ञानिक उनमें विज्ञानके तत्व पाता है, भाषा-वैज्ञानिक उनसे भाषाके नियमोंका अनुसन्धान करता है, संसारकी सभ्यताके विकासका अध्ययन करनेवालोंको उनमें इतिहासकी सामग्री मिल जाती है, कवि कवित्व-शक्ति प्राप्त करता है, छन्दः-शास्त्रके प्रेमियोंको मुक्त, अमुक्त सभी प्रकारके छन्दोंकी शैलियां प्राप्त हो जाती हैं और धार्मिक विचार वाले व्यक्तियोंको उनमें चरम सत्यका प्रत्यक्ष दर्शन होता है। कहांतक कहा जाय, अध्यात्मवादी,

भौतिकता-प्रेमी, कलाकार, भूगर्भ-विद्या-विशेषज्ञ, खगोलज्ञ और अलंकार-मर्मज्ञ सभी वेदोंसे आवश्यकतानुकूल अपनी जिज्ञासाकी तृप्ति करते हैं। वेद वास्तवमें वेद हैं।

दुर्भाग्यवश भारतसे वेदोंके स्वाध्यायकी प्रथा उठसी गयी है। अभी अधिक दिन न हुए जब वीर-व्रती श्रीस्वामी दयानन्दजी सरस्वतीने गाढ-निद्रित आर्य-जातिके कानोंमें वेद-महत्वका शङ्ख फूंकते हुए उसीके प्रबोधनार्थ आत्मोत्सर्ग कर दिया था। उससे वेदोंके प्रचारको बल मिला। एक बार जनताने उस गम्भीर-शान्त-मधुर शब्दको आश्चर्यके साथ सुना, उसकी ओर आकृष्ट हुई। आज वह तन्मयताके साथ उस मधुर स्वरके मूल स्रोतको ढूंढ़नेमें लग गयी है।

वेदोंके धार्मिक सिद्धान्त बड़े महत्वके हैं। वस्तुतः वेदोंके ही सब धार्मिक सिद्धान्त सार्वभौम, अजर, अमर एवं तर्क-प्रतिष्ठित हैं। वेद भारतीयोंकी पैतृक सम्पत्ति हैं। किन्तु यह कितने खेदकी बात है कि अधिकांश भारतवासी उनसे सर्वथा अपरिचित हैं। वेदोंका अध्ययन तो दूरकी बात है, साधारणतया लोग उनके सिद्धान्तोंसे भी अनभिज्ञ हैं। इसके अनेक कारण हैं, किन्तु यहां उनके विवेचनकी आवश्यकता नहीं। प्रस्तुत पुस्तक लिखनेका उद्देश्य यही है, कि, जिन लोगोंका अध्ययन इतना नहीं है कि वेदोंका यथावत् अध्ययन कर सकें, उन लोगोंको भी वैदिक सिद्धान्तोंकी साधारण जानकारी प्राप्त हो जाय। इसलिये आर्य जातिके अनेक विद्वान दार्शनिकोंके विवादसे पृथक् रहकर इसमें केवल वेदानुमोदित

सिद्धान्तोंका ही निरूपण किया गया है। साथही उन समस्याओं पर भी विचार किया है गया जो वैदिककालमें उत्पन्न नहीं हुई थीं। किन्तु ऐसा करते हुए वैदिक भावोंकी सर्वथा रक्षा की गयी है। स्थान-स्थानपर उन स्मृतियों तथा धार्मिक ग्रन्थोंके भी प्रमाण उद्धृत किये गये हैं, जो वेदानुकूल हैं। भाषाकी सरलताका भी ध्यान रक्खा गया है, जिससे विद्यार्थी तथा साधारण शिक्षित लोग लाभ उठा सकें।

इधर कुछ इसी ढंगकी धार्मिक पुस्तकें विद्वान लेखकोंकी लेखनीसे निकल चुकी हैं। उनमें कुछ विद्यार्थीवर्ग एवं साधारण श्रेणी की आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेके लिये भी लिखी गयी हैं। किन्तु कुछ तो आवश्यकतासे अधिक विस्तृत हैं और कुछ इतनी संकुचित, कि उनसे अन्त्यत वाञ्छनीय विषय भी छूट गये हैं। कुछ पुस्तकोंमें संस्कृत-श्लोकोंकी इतनी प्रचुरता है कि पढ़ते-पढ़ते संस्कृत न जानने वालोंका चित्त घबड़ा जाता है। और कुछ यहांतक प्रमाण-शून्य हैं कि उनमें स्थान-स्थानपर लेखककी सत्यतापर सन्देह होने लगता है।

प्रस्तुत पुस्तकको उक्त दोषोंसे मुक्त रखनेकी चेष्टा की गयी है। साधारणतया सभी ज्ञातव्य विषयोंका समावेश किया गया है। कहीं-कहीं अत्यन्त प्रसिद्ध दार्शनिक मतोंका भी दिग्ददर्शन करा दिया गया है,किन्तु कटु आलोचनाको सर्वथा स्थान नहीं दियागया है। लेखकको अपने उद्योगमें कहांतक सफलता हुई है, इसका निर्णय तो विद्वज्जनों एवं निष्पक्ष पाठकोंके हाथमें है।

पुस्तकका प्रारम्भ बहुत विलम्बसे हुआ और प्रकाशक महोदयको कुछ कारणोंवश प्रकाशनकी अत्यन्त शीघ्रता थी। इस शीघ्रताके फल-स्वरूप जो वाक्य एक वार लेखनीसे निकल गया उस पर पुनः दृष्टि डालने तकका अवकाश न मिला। ऐसी अवस्थामें पद-पद पर त्रुटियोंका रह जाना स्वाभाविक है। आशा है, अनुभवी विद्वान मेरी कठिनाइयोंको समझ कर आवश्यक सम्मतिसे कृतज्ञ करेंगे, जिससे अगले संस्करणमें उनका सुधार हो सके।

आर्य विद्यालय
कलकत्ता।
१-१०-३७

प्रभुदयालु अग्निहोत्री
'विनोद'

विषयानुक्रमणिका

(१)

(२)

(२)

दर्शन शास्त्रः—परिभाषा, सांख्य-योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, मीमांसा-भारतीय दर्शनशास्त्रोंकीविशेषता।

ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थः—परिभाषा एवं वर्ण्य विषय।

उपनिषद्ः—परिभाषा—संख्या और महत्व।

स्मृतिः—परिभाषा-संख्या-मान्यता।

पुराणः—संख्या-रचनाकाल एवं रचयिता-प्रामाणिकता।

इतिहासः—प्राप्त इतिहास ग्रन्थ-काव्यका उद्गम-प्राप्त ग्रन्थोंकी प्रामाणिकता।

(३)

चारआश्रमः—मनुष्यकी आयु एवं उसका विभाजन-गर्भकालमें शिक्षा तथा स्वास्थ्य- बाल्यकालकी मातृशिक्षा तथा उसका प्रभाव-ब्रह्मचर्य-पाठशालायें- अग्निहोत्र और उसका महत्व-सन्ध्या-प्राणायाम-सन्ध्या करनेकी आवश्यकता और न करनेमें दोप-वीर्यरक्षा-ब्रह्मचर्यकी अवधि- वीर्यरक्षाका महत्व- शीघ्र विवाहकी हानियां-अध्ययनविधि-स्त्री और शूद्रको वेदाध्ययनका अधिकार-ब्रह्मचारीके अन्य कर्तव्य—गृहस्थाश्रमका महत्व- प्रवेशकाल-अनुकूल पात्र-स्वयम्बर- दहेज और वरयात्रा- कन्याविक्रय- वर-विक्रय- विवाह संस्कार विधि- पंच महायज्ञ, ब्रह्मयज्ञ-देवयज्ञ- पितृ-यज्ञ, अतिथि-यज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ-पंच महायज्ञोंका फल- गृहस्थके अन्य कर्तव्य- स्त्रीका आदर- पड्दूपण- गृहस्थाश्रमकी कठिनाइयां-आदर्शगृह- वानप्रस्थाश्रमकी आवश्यकता- विधि-वनस्थके कर्तव्य-

(३)

सन्यास-सन्यास-विधि सन्यासीके कर्तव्य- सन्यासियोंकी आवश्यकता-आश्रम व्यवस्थाके उद्देश्य तथा वर्तमान अवस्था ।

(४)

वर्णव्यवस्था:—वर्ण कल्पना एवं उनके उद्देश्य—वर्ण-परिवर्तन-ब्राह्मण- ब्राह्मणोंके गुण, कर्म, स्वभाव-ब्राह्मणोंके कर्तव्य-ब्राह्मणोंकी प्रतिष्ठा-क्षत्रिय-क्षत्रियों कर्तव्य, क्षत्राणियोंकी वीरता-वैश्य-वैश्योंके कर्तव्य-प्राचीन व्यापारप्रथा-वश्यकर्मकी आवश्यकता-शूद्र-समाजमें शूद्रोंका क्रमिक पतन और उसके कारण-शूद्रोंका कर्तव्य-शूद्रोंका महत्व- वर्तमान वर्ण व्यवस्था और उसका पुनःसंगठन ।

(५)

षोडश संस्कार:—संस्कारका अर्थ और तात्पर्य-गर्भाधान-पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म-नामकरण—निष्क्रमण—अन्नप्राशन-चूड़ाकर्म-—यज्ञोपवीत—वेदारम्भ—समावर्तन—विवाह--गार्हस्पत्य-वानप्रस्थ—सन्यास—अन्त्येष्टि—संस्कारोंका फल—बालसंस्कारों की अधिकताका कारण-वर्तमानसंस्कार—पद्धति-संस्कारशुद्धिकी आवश्यकता ।

(६)

दिनचर्या एवं कर्तव्य:—जीवन-निर्माण एवं दिनचर्याका सम्बन्ध-प्रातःजागरण--धर्मार्थचिन्तन-शौच-व्यायाम--भ्रमण-व्यायाम एवं स्वास्थ्य-स्वास्थ्यका महत्व-भारतीय तथा विदेशी व्यायाम-

स्नान-स्नानकी आवश्यकता-स्नान विधि-स्नानवेला-सन्ध्या-हवन-आवश्यक कार्य-भोजन-भोजनकाल—भोज्यपदार्थ--भोजनविधि-दैनिक कार्य-सायंकृत्य-कृतकार्य-चिन्तन-शयन-शयनकी आवश्यकता शयनकाल—शयनपरिमाण-नियमनकी आवश्यकता--बालकोंके कर्तव्य-नम्रता-स्वाभिमान एवं विनयका अन्तर-प्रणायामसे लाभ-आर्य-संस्कृतिसे प्रेम-राष्ट्रीयता-अनुशासन स्वदेश और स्वदेशी-व्यापक अध्ययन-स्वावलम्बन ।

(७)

समाजः—जाति और वर्ण—वर्ण सृष्टिके कारण—वर्ण सृष्टिका परिणाम—वर्ण व्यवस्थाका दुरुपयोग—जन्मना जातिकी प्रथा उसके कारण और परिणाम—जातियां—उपजातियां—ब्राह्मणोंके जाति भेद, क्षत्रियोंकी विभिन्न जातियां—वैश्य वर्ण एवं वैश्य जातियां—शूद्र जातियां—जाति प्रथाका कुपरिणाम—जाति प्रथा मिटा देनेकी आवश्यकता-वर्ण संगठन-वेद और वर्ण-वर्ण प्रथाके लाभ ।

अछूतोद्धारः—अछूत और हरिजन-समाजमें अछूतोंके अधिकार-प्रथाकी प्राचीनता-अछूतोंका अज्ञान और दारिद्र्य-अस्पृश्यता में शास्त्रोंका मत-छुआछूतके पक्षपातियोंकी युक्तियाँ-अस्पृश्यतासे समाजकी हानि-राजनीतिक क्षति-अछूतोंके प्रति कर्तव्य ।

शुद्धिः—मनुष्यकी अल्पज्ञता-भूलें और प्रायश्चित्त-महापातक-पापमोचन विधि-प्राचीन कालमें शुद्धि—शुद्धिका तात्पर्य—विधर्मी हिन्दू—हिन्दू समाजकी संकुचित भावना-पतितोंके प्रति कर्तव्य ।

भक्ष्याभक्ष्य:—आचार-भोजनका महत्व-भोजन शुद्धि-बाजारू-भोजन-अभक्ष्य पदार्थ-भोजन स्थान-पाचक—उच्छिष्ट—कच्चे पक्केका विचार—भक्ष्यग्रहण एवं अभक्ष्य त्याग।

आर्य:—आर्यकी परिभाषा-कर्तव्याकर्तव्य निर्णय—सत्पुरुषोंका चरित्र-सत्समादर।

(८)

ईश्वर:—ईश्वर और आर्यावर्तीय विद्वान—ईश्वर सिद्धि-ईश्वरका स्वरूप—परमेश्वरका मुख्य नाम-बहुदेववाद और पुराण-मूर्तिपूजन-मूर्ति पूजाके प्रारम्भिक कारण—मूर्ति पूजाकी अवैदिकता-उपासनाका प्रकार—सगुणनिर्गुणस्तुतिप्रार्थनोपासना—स्तुतिसे पापमुक्ति—दया और न्याय—अवतारवाद—अवतारवादकी निस्सारता।

(९)

जीव:—जीवके धर्म—जीवकी सिद्धि—जीव और ईश्वरका अन्तर—कर्म स्वातन्त्र्य—जीव और ईश्वरका सम्बन्ध—जीव और ईश्वरकी भिन्नता—स्वामी शंकराचार्यका मत-अद्वैतवादकी अवास्तविकता—ईश्वर और जीवके गुणकर्मस्वभावादिमें अन्तर।

आवागमन:—शरीर त्याग—कर्मोंकी अवशिष्टता—आत्माका अन्त—वाममार्गियोंका मत—आवागमनमें प्रमाण—जन्मविधि-कर्मभेद-शरीरभेद-चार प्रकारके शरीर-पूर्व जन्मकी स्मृति-आवागमन और परमेश्वरका अधिकार-आवागमन और जीवस्वातन्त्र्य।

वैदिक धर्म

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ।

मनु० ।

वैदिक

धर्म

प्राचीन कालमें एक महान् ऋषि कणादि नामक हो गये हैं। [illegible] बनाया वैशेषिक दर्शन बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसमें उन्होंने धर्मकी परिभाषा करते हुए लिखा है :—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'

अर्थात् जिससे इस लोक और परलोक दोनोंमें सुख मिले, उसे धर्म कहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि वे समस्त शुभ कर्म, जिनसे हमें अथवा दूसरोंको वास्तविक सुख मिलता है, धर्मकी परिभाषाके भीतर आ जाते हैं। वास्तविक सुखका तात्पर्य है, उस सुखसे, जो क्षणिक इन्द्रिय-वासनाओंका उद्दीपक न हो। दूसरेकी वस्तु चुरा लेने अथवा मिथ्या बोलकर किसीको धोखा दे देनेसे भी कुछ काल के लिये मनुष्यको सुख होता है किन्तु वह सुख वास्तविक नहीं होता। वह तो उस 'पयोमुख विषकुम्भ'के समान है जो ऊपरसे अच्छा एवं स्वादिष्ट मालूम होता है किन्तु वस्तुतः प्राणनाश करता है। इसी लिये विद्वानोंने उक्त परिभाषाका अनेक व्याख्याओं द्वारा स्पष्ट अर्थ कर दिया है। श्रीमनु महाराजने तो इस प्रकारके कर्मोंका वर्गीकरण तक कर दिया है। उन्होंने लिखा है :—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म-लक्षणम्॥

अर्थात् कठिनाइयोंमें न घबराना, अन्योंके अपराधों पर ध्यान न देना, विषय वासनाओंमें न फँसना, दूसरोंकी वस्तुओंको अनुचित रीतिसे लेनेकी इच्छा न करना, मन और शरीर दोनोंको शुद्ध एवं स्वच्छ रखना, इन्द्रियोंको दुष्कर्मोंसे रोकना, विचार शील तथा विद्वान होना, जिस बातको जैसे जानता हो वैसे ही कह देना, क्रोध न करना, ये दश धर्मके लक्षण हैं। यदि मनुष्य इन पर आचरण करनेका अभ्यास करे, तो वह इस जीवनमें तथा इसके अनन्तर भी सानन्द रह सकता है। इसी लिये कहा है :—"दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः," अर्थात् इन दश लक्षण वाले धर्मका यत्न पूर्वक सेवन करना चाहिये। क्योंकि :—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

मनु० ।

अर्थात् यदि हम धर्मको सुरक्षित रक्खेंगे तो वह भी हमारी रक्षा करेगा और यदि हम उसका नाश होने देंगे या करेंगे तो वह भी हमारा नाश करेगा। इस लौकिक तथा पारलौकिक सुख देने वाले धर्मकी व्याख्या द्वारा तद्विषय शिक्षाको ही धर्म शिक्षा कहते हैं। प्राचीन कालमें प्रथम तो बालक माता पिताका सदाचरण देख कर स्वयं ही शिष्ट एवं सदाचारी बन जाते थे, और यदि कोई त्रुटि सी रह गयी तो वह गुरुके उपदेशोंसे दूर हो जाती थी। धर्मका उपदेश शिक्षाका मुख्य अंग था, क्योंकि शिक्षाका उद्देश्य ही चरित्र-निर्माण

माना जाता था। किन्तु शताब्दियोंसे उस सभ्यताका ह्रास होते-होते आज भारतीय समाज चारित्रिक दृष्टिसे बहुत पतनोन्मुख हो गया है। मुगलकालमें प्राचीन भारतीय धर्म-सिद्धान्तोंका विरोध हुआ किन्तु उसने उसके अनुयायियोंकी श्रद्धा और भी जागरित कर दी। नवीन शिक्षा-प्रणालीने हमारे मस्तिष्कमें वे भाव भर दिये जिनसे हम इस ओर ध्यान ही नहीं देते। प्रायः विद्यार्थी जीवन भर अन्योंकी दासता कर येन केन प्रकारेण उदरपूर्ति करना ही पढ़नेका उद्देश्य समझने लगे हैं। अपने चारों ओरका दूषित वायुमण्डल देख कर उनके हृदयमें भी बड़े पद पाने, उच्च प्रासादोंमें निवास करने और विविध सांसारिक भोगविलासोंका आनन्द लूटनेकी तीव्र लालसा उत्पन्न हो जाती है। वे, जिस प्रकार हो सकता है, उस वासनाकी पूर्तिके लिये उद्योग करते हैं और जब उसमें कृतकार्य नहीं होते तो निकृष्ट मार्गका अवलम्बन कर मानव-समाजको कलङ्कित करने पर भी उतारू हो जाते हैं। इसमें उनका अधिक दोष नहीं। अपने जीवनके सर्वोत्तम भाग, अध्ययन काल, में कभी उन्होंने शिक्षाका वास्तविक उद्देश्य सीखा ही नहीं। संयम एवं आत्मत्याग जैसे उच्च आदर्श उन्होंने नहीं सीखे। यही कारण है कि दिन प्रति-दिन विज्ञानके विकासके साथ साथ मानवताका विकास तो दूर रहा, उसका पतन होता चला जा रहा है। प्राचीन कालमें केवल कुछ पुस्तकोंको रट लेना ही शिक्षाका अन्त न समझा जाता था। गुरु जो कुछ उपदेश देते थे, शिष्य श्रद्धाके साथ उन्हें हृदयङ्गम कर तदनुकूल आचरण करनेकी पूर्ण चेष्टा करते थे। आज भी यदि छात्र धर्म-शिक्षाका

मूल्य समझने लगें और अपने मास्तिष्किक विकासके साथ-साथ आत्मिक विकास पर भी ध्यान दें तो उनका जीवन बहुत कुछ सुधर जाय।

जिस प्रकार शरीर रक्षाके लिये भोजन आवश्यक है उसी प्रकार मन और आत्माके लिये भी आहारकी आवश्यकता होती है। इसकी पूर्ति धार्मिक ग्रन्थोंके अध्ययन, महापुरुषोंके सत्संग एवं सदाचरणसे हो सकती है। धार्मिक ग्रन्थोंके अध्ययनसे न केवल मस्तिष्क का विकास होता है, बल्कि आत्माको भी शान्तिकी प्राप्ति होती है। कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान हो जाता है। अनेक प्रलोभनों एवं पतनोंसे आत्मरक्षा करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न होती है। अधिक क्या कहा जाय, बिना धार्मिक शिक्षाके मनुष्य यह भी नहीं जान सकता कि वह कौन है? यहां किस हेतुसे आया है? और अन्तमें कहां जायगा? इत्यादि।

धर्म जीवनके प्रत्येक क्षण पर नियन्त्रण रखता है। छोटेसे छोटे कर्मके साथ धर्मका कुछ न कुछ सम्बन्ध लगा रहता है। अनेक बार ऐसी परिस्थितियां उपस्थित हो जाती हैं जब मार्गमें अंधेरा प्रतीत होने लगता है। यह पता नहीं चलता कि कौन मार्ग अभिमत स्थान पर ले जा सकेगा। उस समय धर्महो अपने उज्वल प्रकाशसे अभीष्ट स्थान पर पहुंचानेमें सहायक होता है। अतः धर्मशिक्षाका पाठ्य विषयोंमें अत्यन्त महत्व पूर्ण स्थान है।

इस समय संसारमें अनेक मत प्रचलित हैं। उनमें कुछ प्राचीन हैं और कुछ नवीन। बहुतसे मत कुछ काल तक प्रचलित रहकर विलुप्त भी हो चुके हैं। आज उनका कोई अनुयायी नहीं। सब

मतोंके अनुयायी अपने मतको मत न कह कर प्रायः धर्म कहा करते हैं। जैसे; ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, आदि। इससे श्रोताओंके चित्तमें एक दुविधा सी उत्पन्न हो जाती है कि वास्तविक सच्चा धर्म कौन है? बहुतसे श्रद्धालु दीर्घकाल तक इसी उलझनमें पड़े रहते हैं। किन्तु यदि थोड़ा विचार करके देखा जाय तो धर्म कभी मिथ्या हो ही नहीं सकता। यदि सत्य-भाषण धर्म है तो वह धर्म ही रहेगा। देश, काल और परिस्थितिके अनुसार धर्ममें परिवर्तन नहीं हुआ करता। ऐसे धर्मोंकी संख्या भी अधिक नहीं हो सकती। वह सारी सृष्टिके लिये एक समान रहेगा। अग्निका धर्म उष्णता है तो अग्नि सदा उष्ण रहेगी। और जिसके बिना कोई वस्तु रह सकती है वह उसका धर्म नहीं कहा जा सकता। हो सकता है, कुछ कालके लिये विरोधी कारणकी प्रबलता होनेसे हमें किसी पदार्थके धर्मकी प्रतीति न हो किन्तु धर्म धर्मीका सर्वथा परित्याग कदापि नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ जलको ले लीजिये। शीतलता जलका धर्म है। शीतलता की अपेक्षा उष्णताका अधिक संयोग होनेसे चाहे हमें शैत्यकी प्रतीति कुछ काल तक न हो किन्तु अपनी स्वाभाविक अवस्थामें जल शीत ही रहेगा। इसी प्रकार समाज अपने धर्मका परित्याग कर जीवित नहीं रह सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि मानव-धर्म यूरोप, अमेरिका और भारत सभी देशोंके अधिवासियों पर समान रूपसे लागू होगा। आजसे करोड़ों वर्ष पूर्व और करोड़ों वर्ष पश्चात्‌के धर्ममें कोई अन्तर नहीं हो सकता। जिसमें अन्तर होगा वह धर्म या मानव-धर्म कदापि नहीं कहा जायगा।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे व्यवहार हैं जिन्हें साधारणतया धर्म संज्ञा दे दी जाती है। जैसे युगधर्म, देशधर्म इत्यादि। ऐसे स्थलों पर धर्म शब्द कर्तव्यके अर्थमें व्यवहृत होता है। इन्हें यदि धर्मके भेद मान लें तो भी कोई हानि नहीं। इस प्रकारसे धर्मके अनेक भेद किये जा सकते हैं किन्तु उन स्थानों पर धर्मका प्रयोग औपचारिक ही माना जायगा। जिस प्रकार साहित्य शब्द व्यापक वाङ्मयका मुख्य बोधक होनेपर भी काव्य नाटकादिका बोध कराता है उसी प्रकार धर्म शब्द विश्व धर्मका बोध कराते हुए भी संकुचित अर्थमें देशकालादि परिच्छिन्न कर्तव्योंका भी बोध करावेगा।

तब प्रश्न यह उठता है कि प्रचलित अनेक मत मतान्तरोंकी गणना किस धर्ममें की जाय? वास्तवमें जिन्हें धर्म कहते हैं उनमें निहित सिद्धान्तोंके दो रूप हैं। कला और विज्ञान। उनका एक भाग निश्चित सत्यको शिव और सुन्दर रूपमें अभिव्यक्त करता है। कला एक निश्चित तत्व है जिसमें विवादको स्थान नहीं। वही धर्म-तत्व है। ऐसे धर्मतत्व प्रत्येक मतमें यत्रतत्र छिटफुट बिखरे रहते हैं। किसीमें कुछ कम और किसी में अधिक। दूसरा भाग विज्ञान पक्षका है जो व्याख्यात्मक है। इसके द्वारा हम कला तक पहुंचनेका उद्योग करते हैं। विज्ञान पूर्ण और अपूर्ण दोनों अवस्थाओंमें विद्य-मान रह सकता है। उसकी पूर्णता ही कला है। अतः विज्ञान द्वारा निश्चित तथ्य सर्वसम्मत होता है। किन्तु निश्चयके पूर्व वह सर्व-सम्मत नहीं कहा जा सकता। जहां तक कलाका सम्बन्ध है, संसार के सभी मतोंमें एकमत्य है। किन्तु विज्ञान भागमें मतभेद है।

ऐकमत्यके भागको धर्म और शेषको मत कहना चाहिये । जिस मतमें ऐसे निश्चित सिद्धान्तोंकी जितनी ही अधिकता होगी वह उतना ही धर्मके समीप होगा और जितनी न्यूनता होगी उतना ही दूर । जिसमें निश्चित किये सिद्धान्त पूर्णतया कलाके रूपमें होंगे या यों कहिये जिसमें कला एवं विज्ञान दोनों पक्षोंकी पूर्णता होगी वह पूर्ण-धर्म कहा जायगा ।

इस दृष्टिसे विचार करनेके पश्चात् संसारके धर्मोंमें अपूर्णताका अंश अधिक और पूर्णताका अंश कम होनेके कारण उन्हें मतोंकी कोटिमें ही स्थान देना पड़ेगा । हां, वैदिक धर्म अवश्य पूर्णतया धर्मकी कोटिमें आ सकता है । क्योंकि इसमें निर्णीत तथ्योंको छोड़ कर अन्य अतर्क-प्रतिष्ट बातोंका समावेश नहीं है । यों तो संसारमें प्रायः मतभेद रहता ही है और वदिकधर्मके भी सारे सिद्धान्त सभी देशों के विद्वानों द्वारा उसी रूपमें पूर्णतया स्वीकृत नहीं किये गये हैं तथापि संसारके प्रमुख विद्वानों द्वारा, जिनमें वैदिक और अवैदिक सभी धर्मोंके विद्वान सम्मिलित हैं, इतना तो कमसे कम स्वीकार कर ही लिया गया है कि वैदिक धर्म सर्व प्राचीन, सत्यके सर्वाधिक समीप एवं मान्य है । इसी पूर्णताके कारण हम वैदिक धर्मको धर्म तथा अन्य धर्मोंको मत कहनेके लिये बाध्य हैं । यहां पर उसकी पूर्णताके प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह सारी पुस्तक वैदिक सिद्धान्तोंपर ही लिखी गयी है । अतः यहांकी शंकाओंका समाधान इसी पुस्तकके तत्तत्स्थलोंसे कर लेना चाहिये ।

धृति

धर्मके दश लक्षण ऊपर लिखे जा चुके हैं इन्हें सामान्य धर्म भी कह सकते हैं। इनमें धृति सर्वप्रथम है। साहस पूर्वक किसी कार्यका प्रारम्भ कर देना और फिर उसमें जितनी भी विपत्तियां आयें सबका निःशङ्क सहन कर लेना धृति कहलाता है। गीताकारके मतसे वह धृति तीन प्रकार की है। सात्विकी, राजसी और तामसी। योगके द्वारा अचल रहनेवाली जिस वृत्तिसे मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियायें धारण की जाती हैं उसे सात्विकी धृति कहते हैं। यही सर्वोत्तम है। अनेक पुरुष तो विघ्नों तथा कष्टोंके भयसे कार्यको प्रारम्भ ही नहीं करते, कुछ लोग प्रारम्भ तो कर देते हैं किन्तु विघ्न आनेपर छोड़ बैठते हैं। ऐसे पुरुष आदर्श एवं प्रशंसा-पात्र नहीं अपितु भीरु ही माने जाते हैं। श्रेष्ठ पुरुष तो वे हैं जो एकबार कार्यमें हाथ डालकर, चाहे जितने विघ्न मार्गमें आवें, बिना समाप्त किये नहीं छोड़ते। संकट और विपत्तियां तो उनका साहस बढ़ानेके लिये होती है। वे कष्टों को परीक्षा जानकर उनका सादर स्वागत करते हैं। ऐसे पुरुष वीतराग पुरुषोंकी भांति निन्दा, स्तुति, भय, शोक, मानापमान, एवं हर्ष-विषादकी चिन्ता नहीं करते। जीवन उनके सम्मुख उनके कर्तव्यसे अधिक मूल्य नहीं रखता। उनका सिद्धान्त होता है:—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।

नीतिज्ञ लोग, जो अवसर देखकर काम किया करते हैं, चाहे निन्दा करें अथवा प्रशंसा, लक्ष्मी चाहे रहे या चली जाय, चाहे जीवन चिरकाल तक रहे या आज ही समाप्त हो जाय किन्तु धैर्य-शाली पुरुष सत्यमार्गसे विचलित नहीं होते। ऐसे कर्मनिष्ठ वीर हिमालयकी भांति दृढ़, समुद्रके समान स्थिर गम्भीर, वायुके तुल्य निरन्तरवाही एवं पयस्विनीके तुल्य शीतल-हृदय होते हैं। इतिहासमें उनका नाम अमर रहता है। वे भविष्यमें अवतार माने जाते हैं। जो लोग भयकी चरमसीमाको ही धैर्य मानते हैं वे धैर्यकी परिभाषा को संकुचित करते हैं।

आपत्कालमें धैर्य धारण करनेसे जो लाभ होते हैं उससे कई गुनी हानि उसे छोड़ देनेसे होती है। यदि किसी सेनाका नायक सहसा युद्धसे भयभीत होकर स्वयं चुपचाप भाग जाय, तो वह न केवल अपनी मान-मर्यादाको भङ्ग करेगा अपितु अनेक प्राणियोंका घाती भी बनेगा और सेनाके पराजयकी सारी कलङ्ककालिमा उसी के मस्तक पर लगेगी। नाव टूट जानेपर समुद्रमें, यह जानते हुए भी कि इसे पार करना असम्भव है, मनुष्य तैरनेकी चेष्टा करता है। कभी-कभी उसे अनुकुल साधन भी मिल जाते हैं। अतः अन्तकाल तक धैर्यपूर्वक परिस्थितिका प्रतीकार करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

धैर्यसे व्यक्तित्व, देश और समाजकी उन्नति होती है। आत्मिक बल बढ़ता है। बिना धैर्यके उन सबकी अवनति होती है। अतः

कणादि महर्षिकी परिभाषाके अनुकूल धैर्य धर्मके लक्षणोंमें समाविष्ट हो जाता है।

क्षमा

नीतिका वचन है:—

क्षमाशस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति॥

जिसके पास सहनशक्तिका हथियार है उसका दुष्ट कुछ बिगाड़ नहीं सकते। अग्निका स्वभाव जलाना अवश्य है किन्तु जब जलाने योग्य कोई वस्तु न रहेगी तो वह स्वयं शान्त हो जायगी। किसीके द्वारा दिये गये कष्टको चुपचाप शान्त चित्तसे सहन कर लेनेका नाम ही क्षमा है। यह क्षमा निर्बलताकी द्योतक नहीं किन्तु शक्तिमत्ताका प्रमाण है। विवशताकी क्षमा, क्षमा नहीं कहलाती। वस्तुतः बाहरी क्षमा दिखला देनेका ही नाम क्षमा नहीं है। अन्तरमें प्रसन्न रह कर कष्ट या अन्यसे दी हुई पीड़ाको सहन कर लेना क्षमाका सच्चारूप है। अक्रोध, नम्रता अहिंसा और शान्ति तो इसके अनिवार्य गुण हैं।

क्षमाको धर्म माननेका कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्य कभी न कभी ऐसा कोई कार्य अवश्य कर जाता है जो दूसरेको अच्छा नहीं लगता ऐसा तो बड़े-बड़े सत्पुरुषोंसे भी हो जाता है। फिर साधारण पुरुषोंकी तो बात ही क्या? यदि अन्योंकी अपने प्रतिकूल की हुयी चेष्टापर सब लोग क्रोध करने लगें, और अधिक नहीं तो उस चेष्टाका उत्तर उसीके बराबर विपरीत चेष्टासे देने लगें, तो संसारकी गतिमें

उधर ही चली जाती हैं। इसलिये यदि बुद्धिके द्वारा मनकी गति संयत न की जायगी तो वह इन्द्रियोंको विषयोंमें फंसा कर मनुष्यका नाश कर देगा। इसीलिये यजुर्वेदमें परमेश्वरसे प्रार्थना की गयी है:—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवन्तदु सुप्तस्य तथैवैति—
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु

हे दयानिधे ! मेरा मन जाग्रत अवस्था में दूर-दूर जाता, दिव्य गुण-युक्त रहता है। वही सोते हुये मेरा मन सुषुप्तिको प्राप्त होता वा स्वप्नमें दूर-दूर जानेके समान व्यवहार करता है। सब प्रकाशकों का प्रकाशक, एक वह मेरा मन शिव शङ्कल्प अर्थात् अपने और दूसरे प्राणियोंके अर्थ कल्याणका सङ्कल्प करने वाला हो।

यदि मन थोड़ी देरके लिये भी स्वच्छन्द कर दिया जायगा तो वह विषयोंकी ओर प्रवृत्त होगा। गीतामें मनकी गति एवं उसके संयमका बहुत सुन्दर वर्णन है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है:—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः—
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।

यत्न करने पर भी विद्वान पुरुषों का मन इन्द्रियों द्वारा चञ्चल कर दिया जाता है। तब साधारण दुर्बल चरित्र वालोंका तो कहना ही क्या ? अतः अत्यन्त सावधानीसे मनको बुद्धिद्वारा दबाना चाहिये क्योंकि मनके द्वारा मनुष्य परमात्मा तक पहुंच जाता है

उधर ही चली जाती हैं। इसलिये यदि बुद्धिके द्वारा मनकी गति संयत न की जायगी तो वह इन्द्रियोंको विषयोंमें फंसा कर मनुष्यका नाश कर देगा। इसीलिये यजुर्वेदमें परमेश्वरसे प्रार्थना की गयी है:—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवन्तदु सुप्तस्य तथैवैति—
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु

हे दयानिधे! मेरा मन जाग्रत अवस्था में दूर-दूर जाता, दिव्य गुण-युक्त रहता है। वही सोते हुये मेरा मन सुषुप्तिको प्राप्त होता वा स्वप्नमें दूर-दूर जानेके समान व्यवहार करता है। सब प्रकाशकों का प्रकाशक, एक वह मेरा मन शिव शङ्कल्प अर्थात् अपने और दूसरे प्राणियोंके अर्थ कल्याणका सङ्कल्प करने वाला हो।

यदि मन थोड़ी देरके लिये भी स्वच्छन्द कर दिया जायगा तो वह विषयोंकी ओर प्रवृत्त होगा। गीतामें मनकी गति एवं उसके संयमका बहुत सुन्दर वर्णन है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है:—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः—
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।

यत्न करने पर भी विद्वान पुरुषों का मन इन्द्रियों द्वारा चञ्चल कर दिया जाता है। तब साधारण दुर्बल चरित्र वालोंका तो कहना ही क्या? अतः अत्यन्त सावधानीसे मनको बुद्धिद्वारा दबाना चाहिये क्योंकि मनके द्वारा मनुष्य परमात्मा तक पहुंच जाता है

और मनके द्वारा ही महागर्तमें गिर सकता है। दम कुवासनाओंसे पृथक करता है यह धर्मका एक आवश्यक अंग है।

अस्तेय

विना स्वामीकी इच्छा अथवा आज्ञाके किसी वस्तुके न ग्रहण करनेको अस्तेय और उसके विपरीत व्यवहारको स्तेय कहते हैं। मनु महराजने विना स्तेयके जीविकोपार्जनके दश साधन बताये हैं:—(१) अध्यापन, लेखन, भाषण आदि द्वारा विद्या प्रचार करके अपने निर्वाह भरको ग्रहण करना, (२) शिल्प, विज्ञान कलाकौशलादि, (३) सेवा, (४) पशुपालन, (५) व्यापार, (६) कृषि, (७) सन्तोप-पूर्वक स्थिर रहने पर जो मिल जाय। इसे आकाशीय वृत्ति भी कहते हैं, (८) भिक्षा, (६) व्याज पर द्रव्य उधार दे कर। मनुजीने जीविकाके साधनोंकी यह संख्या नियत नहीं कर दी है। उनके समयमें प्रचलित जो जीविका-साधन उनकी दृष्टिमें आये उनका उन्होंने उल्लेख भर कर दिया है। इनके अतिरिक्त किसी अन्य व्यापार या उद्यम द्वारा जिसका संचालन न्याय और ईमान-दारी द्वारा किया जा सके, वृत्तिका उपार्जन करना मनुष्यका कर्त्तव्य है। किन्तु उसमें बेईमानीका पुट न होना चाहिये। आजकल व्यापार भी प्रायः ईमानदारीसे सञ्चालित नहीं होता। प्रायः लोगोंको ऐसा कहते भी सुना गया है कि सत्यसे व्यापार चल ही नहीं सकता। यह भ्रान्त धारणा है। मिथ्याके आधार पर स्थिर कोई भी कार्य चिर-स्थायी नहीं हो सकता। यदि सब सत्य बोलें और एक दूसरेका

विश्वास करने लगें तो व्यवहारमें और सरलता एवं सुविधा हो। अन्याय या अनुचित रीतिसे धन थोड़े दिनों तो खूब बढ़ता है किन्तु पश्चात् समूल नष्ट हो जाता है। इसी लिये ईशोपनिषत्में सर्व-प्रथम इसीका उपदेश दिया है:—

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यांजगत्।
तेन त्यक्तेनभुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

यह सम्पूर्ण जड़-जंगम जगत् उस परमेश्वरका निवास-स्थान है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें वह न हो। इसलिये उसका ध्यान रख कर ईमानदारीसे, जितना मिले, उसीका उपभोग करो। महर्षि वेद-व्यासने भी कहा है:—

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद्धनकांक्षया ॥

जो धन धर्मसे मिले वह तो ठीक है किन्तु जो अधर्मसे मिले वह त्याज्य है। संसारमें धर्म ही स्थायी है। अतः धनके लोभसे धर्मका परित्याग न करना चाहिये।

अस्तेयसे मनुष्य-समाजकी व्यवस्था चलती है। यदि सब लोग अन्योंकी वस्तुओंका अपहरण करने लगें तो बड़ा उपद्रव मच जाय। प्राचीन कालमें तो विना पूछे अभिन्न-हृदय मित्रकी भी वस्तु ले लेने पर अपने हाथ काट डालने तककी प्रथा थी। ऐसे उपाख्यान प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलते हैं। इसी कारण अस्तेय धर्मका अंग माना गया है।

शौच

शौचका अर्थ पवित्रता है। किन्तु साबुनसे मल २ कर शरीर धो डालने ही को पवित्रता नहीं कहते। कायिक और मानसिक दोनोंही शुद्धियोंको शौच कहते हैं। प्रायः हम किसी मनुष्य को साफ सुथरे कपड़े पहने देख कर ही उसके विषयमें धारणा कर लेते हैं कि वह शुचि है किन्तु पात्र बाहरसे स्वच्छ होने पर भी मलिन हो सकता है। इसी प्रकार भीतरसे स्वच्छ रहने पर भी बाहर मलावृत हो सकता है। ये दोनों अवस्थायें ठीक नहीं। वे पद-पद पर भ्रामक हो सकती हैं। फिर एक की शुद्धि अधिकांशमें दूसरेकी शुद्धि पर बहुत कुछ निर्भर भी है। मनुजीने एक श्लोकमें बाह्य एवं आभ्यन्तरिक दोनों शुद्धताओंके साधन बड़े सुन्दर ढंगसे बतला दिये हैं।

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनःसत्येनशुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

शरीर, वस्त्र इत्यादि बाहरी वस्तुयें जल, साबुन, मिट्टी आदिसे शुद्ध हो जाती है। मन सत्यसे शुद्ध होता है। आत्माकी शुद्धि विद्या और तपसे होती है और बुद्धिकी शुद्धि ज्ञानसे होती है।

शारीरिक शुद्धिमें उदर-शुद्धिका स्थान अत्यन्त उच्च है। प्रायः बच्चे प्रातःकाल उठकर शौच जानेकी आदत नहीं डालते। कुछ लोग उठते ही अन्य काम करने लगते हैं। कुछ लड़के तो शौचसे पूर्व कुछ आहार भी कर लेते हैं। इससे रक्त दूषित हो जाता है औरबुद्धि मन्द पड़ जाती है। अतः नित्य सूर्योदयके पूर्व उठकर शौच कुल्ला दतून

आदिसे निवृत्त हो स्नान करना चाहिये। बाह्य शुद्धिमें स्थान शुद्धि भी आ जाती है। जिस स्थान पर रहे उसे स्वच्छ और शुद्ध रक्खे क्योंकि ऐसा न करनेसे स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

जो मनमें सोचे उसीको वाणीसे कहे और उसे ही करे। इसके विपरीत मन वाणी और कर्ममें अन्तर होनेसे मन दूषित हो जाता है। इसी लिये कहा है:—

> मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
> मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम्॥

महात्मा पुरुषोंके मन, वाणी और कर्ममें एकता रहती है। किन्तु दुरात्मा लोगोंके मनमें कुछ और रहता है, वाणीमें कुछ और तथा कर्ममें कुछ और ही। विद्याके अध्ययनसे एवं सत्कर्मोंके लिये कष्ट सहनेसे आत्मा अर्थात् जीवकी शुद्धि होती है और जीवकी शुद्धिमें सारी शुद्धियोंका समावेश है। ज्ञान संसारमें अत्यन्त पवित्र वस्तु है। भगवान् कृष्णने गीतामें स्पष्ट कहा है:—'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' और वह ज्ञान श्रद्धासे मिलता है।

इस सारे कथनका तात्पर्य यह हुआ कि शौच मनुष्यको उच्चसे उच्च पद अर्थात् मुक्तिके द्वार तक पहुंचा सकता है। आत्मा, मन और बुद्धि यदि शुद्ध हो गयी तो सब शुद्ध हो गया। शरीर-शुद्धि इनकी शुद्धिका साधन है। अतः शरीर शुद्धिके साथ-साथ इन तीनोंकी पवित्रताका पूर्ण ध्यान रखना चाहिये।

उपर्युक्त कथनसे स्वयं ही स्पष्ट है कि शौच धर्मका कितना महत्त्वपूर्ण अंग है।

इन्द्रिय-निग्रह

मनुष्य के शरीरमें परमेश्वर ने दस इन्द्रियां दी हैं। (१) आंख (२) नाक (३) कान (४) रसना (५) खाल ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। इन पांचों इन्द्रियोंसे पांच विषयोंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। आंखका कार्य देखना, नाकका सूंघना, कानका सुनना, रसनाका स्वाद लेना और खाल अर्थात् त्वचाका कार्य स्पर्श करना है। पांचो विषय पांच पृथक् २ पदार्थों के हैं। ये ५ पदार्थ इन ज्ञानेन्द्रियोंके सहायक देवता भी कहलाते हैं। सूर्य आंखका सहायक देवता है। उससे आंखके विषय, रूप, की उत्पत्ति होती है। विना तेजके आंख व्यर्थ हो जायगी। इसी प्रकार नाकका देवता पृथ्वी, कानका आकाश, रसनाका जल और त्वचाका वायु है। इन सब इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है। अतः ये ज्ञानेन्द्रियां कहलाती हैं।

इसी प्रकार पांच कर्मेन्द्रियां हैं। (१) वाणी, जिससे बोलते हैं (२) हाथ, जिनसे कार्य करते हैं (३) पैर, जिनकी सहायतासे चलते हैं (४) लिंग, जिससे मूत्र त्याग करते हैं (५) गुदा, जिससे मल त्याग करते हैं। इन दशों इन्द्रियोंको अनुचित रीतिसे स्वच्छन्द विषयोंकी ओर भागने न देना इन्द्रिय-निग्रह कहलाता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि इन्द्रियां विषयों की ओर प्रवृत्त ही न हों। जब तक शरीर मन और आत्माका सम्बन्ध है तब तक ऐसा सम्भव भी नहीं। यदि कोई हठात् इन्द्रियोंको सब विषयोंसे

रोकनेकी चेष्टा करे तो वह असफल होगा क्योंकि मन तो विषयोंसे सर्वथा पृथक् हो नहीं सकता। अतः इन्द्रियोंको बुद्धि द्वारा सन्मार्ग पर प्रेरित करना चाहिये। गीतामें लिखा है:—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

जो हठात् इन्द्रियोंका दमन करनेकी चेष्टा करता है और मनसे विषयोंका चिन्तन करता है वह मिथ्या पाखण्ड करता है। कठोपनिषत्में बड़े अच्छे रूपकसे मन, इन्द्रियों, बुद्धि और आत्माके सम्बन्धको स्पष्ट किया है:—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनो युक्तंभोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

अर्थात् यह शरीर एक रथ है। आत्मा इसका अध्यक्ष है। बुद्धि सारथि है, मन बागडोर, इन्द्रियां अश्व हैं और विषय उनके मार्ग। आत्माको अपने चरम-लक्ष्य परमात्माके समीप पहुंचना है। विषयोंमें होकर गुजरना स्वाभाविक है किन्तु सारथि इतना दृढ़ होना चाहिये जो एक क्षणके लिये भी असावधान न हो। जिस प्रकार अश्व मार्गके समीप ही सुन्दर हरा-भरा अन्नका खेत देख जिह्वा-लौल्य से उधर दौड़कर जानेकी चेष्टा करते हैं उसी प्रकार इन्द्रियां, इधर उधर

विषयों की ओर जानेका उद्योग करने लगती है। घोड़ोंको अपनी लालसा-तृप्तिके सम्मुख इस बातकी चिन्ता कहां कि रथ कुमार्ग पर जानेसे टूटेगा अथवा नष्ट-भ्रष्ट तो नहीं हो जायगा। यह तो सारथिका काम है कि वह मार्गका ध्यान रक्खे और बाग-डोर एक क्षणके लिये भी ढीली न होने दे। इन्द्रियोंको स्वल्प स्वतन्त्रता दे देने पर फिर उनका वशमें आना कठिन हो जाता है। जिस प्रकार एकबार खेत चरनेवाला बारबार वहीं जानेकी चेष्टा करता है उसी प्रकार इन्द्रियां बार-बार इन्हीं विषयोंकी ओर दौड़ती हैं। अतः उनके बन्धनके लिये विवेकको सदा जाग्रत रखना चाहिये।

आज तक संसारमें जितने महापुरुष हुये, सब इन्द्रिय-संयमी थे। इन्द्रियोंके वशमें होकर मनुष्य संसारके सम्मुख दीनता दिखाता है, पतितकर्म करता है। अधिक क्या कहें, वह क्या नहीं करता? इसके विपरीत संयमी पुरुष किसीकी परवाह नही करता। बिना किसीकी खुशामद किये स्वच्छन्द अपने मार्गसे चला जाता है और अन्तमें महासिद्धिका भागी होता है। सत्य है:—

एकं काममनुप्राप्य जनो नो कस्य किङ्करः।
एकं कामं परित्यज्य जनोऽयं कस्य किङ्करः॥

एक कामको पाकर मनुष्य किसका गुलाम नहीं बनता और एक कामका परित्याग कर किसका दास बनता है? वास्तवमें इन्द्रिय-बन्धन ही महाबन्धन है। जितेन्द्रिय पुरुषको सब सुलभ है। वह मोक्ष प्राप्त करता है और विषयासक्त पुरुष दुर्गतिका भाजन बनता है। अतः इसे महर्षियोंने धर्मका आवश्यक अंग माना है।

धी

जिसकी सहायतासे धर्म, अर्थ, काम तीनों पर अच्छी तरह विचार किया जाता है उसे धी कहते हैं। अर्थात् धर्म क्या है और उसके साधन कौन कौन हैं? अर्थ किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है? काम क्या है और उसकी प्राप्ति किस प्रकार सम्भव है? तथा ऐसे कौन विघ्न हैं जो इन तीनों पुरुषार्थोंकी सिद्धिमें बाधा पहुंचाते हैं? ये बातें जिसके द्वारा सोची विचारी जा सकें उसे धी कहते हैं। और जिसके पास यह शक्ति होती है वह धीमान् या बुद्धिमान् कहा जाता है।

मनुष्यको बुद्धि ही अन्य प्राणियोंसे पृथक् करती है अन्यथा 'आदर-निद्रा-भय-मैथुन' की दृष्टिसे अन्य जीवों और उसमें कोई अन्तर नहीं। बलमें तो न जाने कितने पशु उससे अधिक हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि जिसमें जितनी अधिक धी होगी इसमें मनुष्यत्वका विकास उतनी ही मात्रामें अधिक होगा। श्रीमद्भगवद्गीतामें इस धीके तीन भेद माने हैं। कौन काम हितकर है, कौन अहितकर; क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये; भय क्या है और निर्भयता क्या है; किन बातोंसे बन्धन होता है और किनसे मोक्ष? यह जिससे जाना जाय वह उत्तम अर्थात् सात्विकी बुद्धि है। जिससे कार्य-अकार्यका समुचित ज्ञान नहीं होता, इच्छानुसार मनुष्य कार्य करता है चाहे वह ठीक उतरे या अयुक्त, वह बुद्धि राजसी कहलाती है। जो बुद्धि अधर्मको धर्म, अकार्यको कार्य और सीधेको उलटा मानती है वह तामसी कही जाती है।

बुद्धिमान् पुरुष जो कार्य करना चाहते हैं उसका परिणाम पहले ही सोच लेते हैं और अनुभवी वृद्ध विद्वानोंके परामर्शानुसार ही कार्य करते हैं। विचार कर किया हुआ कार्य पीछे पश्चात्ताप नहीं उत्पन्न करता और स्थिर रहता है। नीतिमें कहा है :—

सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः,
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं,
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम्।

अच्छी तरह पका हुआ अन्न, विद्वान लड़का, शिक्षित स्त्री, अच्छी तरह प्रसन्न किया हुआ राजा, विचार कर कही हुयी बात और सोच समझ कर किया हुआ कार्य दीर्घकाल तक विकारको प्राप्त नहीं होता। श्री चाणक्यजीने एक श्लोकमें बड़े सुन्दर ढङ्गसे बताया है कि कार्य-प्रारम्भके पूर्व कौन कौन बातें ध्यानमें रखनी चाहिये।

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ।
कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः॥

कैसा अवसर है, कौन शत्रु है और कौन मित्र, कैसा स्थान है, आयव्ययका हिसाब क्या है, मैं कौन हूँ और मेरी सामर्थ्य कितनी है? इन बातों पर प्रायः विचार करते रहना चाहिये। धी तो धर्म का आवश्यक अंग है क्यों इसके बिना कर्तव्याकर्तव्यका ही निर्णय असम्भव है।

विद्या

जिससे वास्तविक जानने योग्य बातें जानी जायें उसे विद्या कहते हैं। मैं कौन हूँ, यह अखिल विश्व क्या है, मेरा कर्तव्य क्या है इत्यादि बातें जिससे ठीक ठीक मालूम हो सकें उसका नाम विद्या है। सृष्टिका पर्याप्तका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। इतने विस्तृत ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तुसे हम परिचित नहीं हो सकते तथापि अल्प जीवनकालमें यथाशक्ति आवश्यक वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त करना नितांत आवश्यक है। प्रायः मातापिता प्यारके कारण बच्चों को वड़ी आयु तक पढ़ने ही नहीं भेजते। ऐसे लड़के प्रायः बिगड़ जाते हैं। जो पढ़ते हैं वे किसी प्रकार उसकी कमाईसे पेट भरना ही विद्याका उद्देश्य समझने लगते हैं किन्तु विद्या पेटका साधन कदापि नहीं है। वह तो जिज्ञासा की तृप्ति ही कर सकती है। यही कारण है कि वर्तमान विद्योपार्जन-प्रणाली सफल नहीं हो रही है।

विद्याकी महिमा चाहे पण्डित हों या मूर्ख सभी जानते हैं। न पढ़ने वाले भी इतना अवश्य जानते हैं कि पढ़ना उत्तम वस्तु है। एक कविने सत्य कहा है:—

अपूर्वः कोपि कोपोऽयं दृश्यते तव भारति।
व्ययाच्च वृद्धिमायाति क्षयमायाति संचयात्॥

हे सरस्वति! आपका कोप तो विचित्र ही है। सब कोष तो द्रव्य एकत्रित करनेसे वढ़ते हैं और व्यय करनेसे रिक्त हो जाते हैं किन्तु आपका कोप चाहे, जितना व्यय किया जाय वढ़ता है और

जितना बचा कर रक्खा जाय, खाली होता जाता है। ऐसे अमूल्य कोषका सञ्चय करना प्रत्येक पुरुषका कर्तव्य है।

सत्य

जो बात जैसी देखी, सुनी, की अथवा समझी हो उसको उसी प्रकार वाणी द्वारा प्रकट कर देनेका नाम सत्य-भाषण है। सत्य भाषण संसारके व्यवहारोंका सञ्चालन करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। यदि साधारणतया मनुष्य सत्यका परित्याग कर दें तो परस्पर विश्वास नहीं रह सकता। ऐसी अवस्थामें बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जायगी। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति बाजारमें कुछ वस्तु खरीदने जाय और दूकानदारसे यह कह दे कि पहले मेरी वस्तु तौलकर दो फिर पैसा दूंगा। अन्यथा यदि कहीं मूल्य दे लेनेके पश्चात् तुमने वस्तु देना स्वीकार न किया तो मेरे पैसे यों ही चले जायंगे। और दूकानदार भी उस पर विश्वास न करके पहले पैसे ले लेनेका आग्रह करे, तो क्रय-विक्रय सर्वथा असम्भव हो जायगा। सत्य बहुत आवश्यक वस्तु है इसीलिये तो उपनिषत्में कहा है:—

न सत्यात्परोधर्मो नानृतात्पातकं परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत्॥

अर्थात् सत्यसे बड़ा कोई धर्म नहीं है और न मिथ्यासे बड़ा कोई पाप है। सत्यसे बढ़कर कोई ज्ञान भी नहीं है, अतः सत्यका आचरण करना चाहिये। संसारमें सत्यकी सर्वदा विजय होती है।

असत्य पक्ष चाहे चार दिनके लिये फूलता फलता भले ही दृष्टि-गोचर हो पर अन्ततोगत्वा उसका विनाश और सत्यकी जय निश्चित है। ऋषियोंने कहा है:—

सत्यमेव जयते नाऽनृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।

अर्थात् सदा सत्यकी विजय होती है असत्यकी नहीं। सत्यके मार्गसे ही परमेश्वरकी प्राप्ति होती है। हमें इतिहास और पुराण ग्रन्थोंमें अनेक ऋषियों या महात्माओंके दिये हुये शापोंका वर्णन मिलता है। यद्यपि उनमें अधिकांश बातें कपोलकल्पित हैं, किन्तु शाप लगना कोई असम्भव बात नहीं है। निरन्तर सत्य-भाषण एवं सत्य-चिन्तनसे मनुष्यकी वाणी एवं मन शुद्ध हो जाता है। वाणी सिद्ध हो जाती है। कहा हुआ शब्द मिथ्या नहीं जाता। उसके शब्द वरदान एवं आशिर्वाद हो जाते हैं। यही कारण है कि अनेक पूर्वज महात्माओं ने सत्यके पीछे राज्य, धन, सुख सभी बातोंका परित्याग कर दिया। वर्तमान युगमें भी महात्मा गान्धी परम सत्य-भक्त हैं। यह उनके सत्य और अहिंसाका ही प्रभाव है कि वे संसारमें सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति माने जाते हैं। किसी कवि के क्या सुन्दर शब्द हैं:—

सांचे साप न लागिया सांचे काल न खाय।
सांचे में साँचा मिले सांचे मांहि समाय॥

सत्यका अभ्यास बाल्यावस्थासे ही करना चाहिये। प्रायः बालक अपनेसे बड़ोंको मिथ्या-भाषण करते देखते हैं और वे भी

शौकिया वचपनमें मिथ्या वोलने लगते हैं। धीरे धीरे यह अभ्यास बढ़ जाता है और फिर अनेक प्रयत्न करने पर भी नहीं छूटता। अतः बालकोंको भूलकर हँसी-मजाकमें भी झूठ न वोलना चाहिये।

अक्रोध

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर इन छः मानसिक विकारों को विद्वानोंने अरिषड्वर्ग कहा है। वास्तवमें ये छः आत्माके मुख्य शत्रु हैं। जिसने इनको जीत लिया उसने सब संसारको अपने वशमें कर लिया। इन छः विकारोंमें भी काम और क्रोध मुख्य हैं। रजोगुण से इनकी उत्पत्ति होती है। ये महानाश करने वाले हैं। गीतामें कहा है:—

काम एषः क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनं हि वैरिणम्॥

अर्थात् काम और क्रोध अज्ञानमूलक स्वार्थसे उत्पन्न होते हैं। वे वड़े संहारक और पापमय हैं। उन्हें अपना शत्रु समझो। किसी वस्तुका निरन्तर ध्यान करनेसे उसके विषयमें प्रीति इच्छा उत्पन्न हो जाती है। प्रीतिसे काम अर्थात् उसको पानेकी इच्छा और इच्छापूर्तिके अभावमें क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। तब स्मृति नष्ट होती है। फिर विवेक शक्तिका भी ह्रास हो जाता है। और बुद्धिके नाशसे मनुष्यका नाश निश्चित है। यही वात इन श्लोकों द्वारा कही गयी है :—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति संमोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

क्रोधमें मनुष्यकी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती । वह क्रोधके आवेशमें आकर अनेक बार ऐसे भी कार्य कर जाता है जिन पर उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है । जिस समय क्रोध उत्पन्न हो उस समय क्रोधके कारणसे दूर हट जाना या उसे भुला देना ही अधिक श्रेयस्कर है । यदि सामने कोई क्रोधोद्दीपक वचन कह रहा हो तो उसके सामनेसे हट जाना ही उत्तम है । इसी क्रोधके कारण अनेक तपस्वी तपोभ्रष्ट हो गये, अनेक साम्राज्य नष्ट हो गये और अनेक विद्वान् मनुष्यसे राक्षस कहलाने लगे । आजकल प्रायः लोग ऐसा भी कहते हैं कि बिना क्रोधके काम ही नहीं चल सकता । वे लोग Tit for tat का सिद्धान्त पालन करते हैं । वास्तवमें यह सिद्धान्त मूलसे ही दूषित है । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम हाथ पर हाथ धरकर चुपचाप अत्याचार सहते रहें, सबल निर्बलको सतायें और हम बैठे हुये देखें । ऐसी अवस्थामें तो अपराधीको दण्ड देना चाहिये । इस दशामें शत्रुको दण्ड देने वाला क्रोधी कदापि नहीं कहा जा सकता । आत्म-रक्षा प्रधान कर्तव्य है । किन्तु उद्देश्य पवित्र होना चाहिये । तब क्रोध तेजके रूपमें बदल जायगा और श्लाघ्य माना जाने लगेगा ।

अतः क्रोध सर्वथा परिहार्य है। अक्रोधी व्यक्तिसे हिंसक पशु भी प्रेम करने लगते हैं। तभी तो हम सुनते हैं कि ऋषियोंके आश्रमोंमें मृग और सिंह एक घाट पानी पीते थे। इसी महत्ताके कारण मनु महाराजने इसे धर्मका प्रथम अंग माना है।

यह मनुजीके बतलाये हुये साधारण दश धर्मोंकी संक्षिप्त व्याख्या हुयी। महर्पियोंने भिन्न २ प्रकारसे धर्मके अंगोंका निर्णय किया है। किसीने एक अंग पर विशेष जोर दिया है तो दूसरेने किसी और पर। किन्तु किसी भी अवस्थामें उद्देश्यमें मतभेद नहीं रहा। महर्पि वेदव्यासजीने जो धर्मकी परिभाषा की है, वह भी कणादसे मिलती जुलती है। उन्होंने लिखा है:—

धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यस्याद्द धारण-संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

संसारकी सभी सत्क्रियाओंको धारण करनेसे वह धर्म कहलाता है। वह सभी स्थावर-जङ्गम सृष्टिका धारण करने वाला है। अतः जिससे जनताकी अभिवृद्धि हो उसे धर्म कहना चाहिये। आगे शान्ति पर्वमें उन्होंने कहा है:—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
जीवितं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥

(महाभारत शान्ति पर्व २५८)

अर्थात् धर्मका तत्त्व सुनो और सुनकर उसे हृदयमें धारण करो। वह धर्म यह है, कि जो बात अपनेको अच्छी न लगे वह दूसरोंके लिये न करे। जो स्वयं जीना चाहे वह दूसरोंको क्यों मारे? जैसा-जैसा अपने लिये चाहे वैसा अन्योंके लिये भी चाहे। जिन भगवान् मनुने धर्मके दश लक्षण बतलाये उन्होंने संक्षेपसे उसके चार भाग भी कर दिये:—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

(१) जिसे वेद कहे, (२) स्मृति जिसका समर्थन करें, (३) सज्जन पुरुषोंने जैसा आचरण किया हो या करते हैं, (४) स्वयंको जो प्रिय मालूम हो, उसे साक्षात् धर्म कहते हैं। वास्तवमें यह धर्मकी पहचान है और पूर्वोक्त १० उसके भेद हैं। जहां कर्तव्या-कर्तव्यका ठीक निश्चय न हो वहां वेदका परामर्श ले। यदि वेदसे उस विषयकी बात ठीक समझमें न आवे तो जिन स्मृतियोंको विद्वत्-समाज वेदानुमोदित मानता है उनसे मालूम करे। यदि स्मृतियां भी उस विषयमें मौन हों तो महापुरुषोंका आचरण देख कर तदनुकूल व्यवहार करे और यदि महात्माओंमें भी मत भेद हो तो शुद्ध चित्तसे अपनेको ईश्वरार्पित कर उससे कर्तव्य-पथ निर्दिष्ट करनेकी प्रार्थना करे। फिर आत्माका जिधर झुकाव हो वही कार्य करे। किन्तु ऐसा करते समय आत्मा और मनकी प्रेरणाओंको प्रथक् २ जांच लेना चाहिये। इसी प्रकार मनुजी ने अन्य भी कई स्थानों पर धर्मके विषय में लिखाहै। एक स्थान पर वे लिखते हैं:—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥
अहिंसा सत्यमस्तेयमकाम-क्रोध-लोभता।
भूतप्रियहितेच्छा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥

मनुजी ने मनसा, वाचा, कर्मणा किसीको कष्ट न देना, चोरी न करना, सत्य बोलना, मन, वाणी एवं शरीरसे पवित्र रहना, इन्द्रियों का संयम, ये धर्म संक्षेपसे सब वर्णोंके लिये बतलाये हैं। अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, काम, क्रोध और लोभसे प्रथक् रहना और सब प्राणियोंका कल्याण करनेकी भावना ये सभी वर्णोंके धर्म हैं।

इतने कथनसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि भेदोपभेदोंके नामकरणमें भलेही अन्तर रहे किन्तु धर्मकी परिभाषा एक ही है। साथ ही यह भी सिद्ध हो गया कि इस उद्देश्य के सबसे अधिक समीप पहुंचने वाला प्रचलित धर्म ही वास्तविक सत्य-धर्म है और वह, जैसा कि पहले बतला चुके हैं, वैदिक धर्म है। अब यहां पर यह जान लेना आवश्यक है कि वैदिक धर्म किसे कहते हैं और उसके सिद्धान्त क्या हैं? अगले अध्याय में इस पर विचार किया जायगा।

वैदिक धर्म

जो धर्म पूर्णतया वेदोंको प्रमाण मानता है उसे वैदिक धर्म कहते कहते हैं। वेदानुकूल आचरण करने वाले व्यक्ति भी वैदिक कहे जा सकते हैं। वैदिक धर्ममें ऐसी कोई बात नहीं मानी जा सकती जिसका वेदोंमें स्थिर किये गये सिद्धान्तोंसे विरोध हो। वेद वैदिकों के स्वतः-प्रमाण ग्रन्थ हैं। अर्थात् उनमें लिखी हुयी बातोंके विषय में अन्यत्र प्रमाण ढूंढनेकी आवश्यकता नहीं। जो वेद में लिखा है सत्य है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वैदिक धर्ममें मौलिक विचारोंका द्वार बन्द है। वस्तुतः यह सिद्ध हो जानेके बाद ही, कि वेदोंके सिद्धान्त संसारके सभी अन्य ग्रन्थोंकी अपेक्षा दृढ़ और पूर्णतया सत्य हैं, वैदिकोंने वेदोंको प्रमाण रूपमें ग्रहण किया। अतः वैदिक धर्म में उन्हीं स्मृतियों और धर्म-ग्रन्थोंको प्रमाण माना जाता है जो वेदानुकूल हैं। इस प्रकार वैदिक धर्मके प्रमाण भूत ग्रन्थ ये हैं:—

वेद

वेद चार हैं। (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद, (४) अथर्ववेद। ये चारों वेद सृष्टिके आरम्भमें परमात्मासे उत्पन्न हुये। ऋग्वेदमें लिखा है:—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

उस यज्ञस्वरूप परमात्मासे ऋग्, यजुः, साम और अथर्व वेद उत्पन्न हुये। सृष्टिके आदिमें परमात्माने अपने ज्ञानरूप श्वास द्वारा अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामक चार ऋषियोंके हृदयमें सर्वप्रथम वेदका अवतार किया। बृहदारण्यकोपनिषत्में लिखा है:—

अथास्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद्।
यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥

अर्थात् उस विराट्-स्वरूप परमात्माके श्वाससे चारों वेदोंकी सृष्टि हुयी। और वे श्वास ऋषियोंके हृदयमें उत्पन्न अद्भुत ज्ञानसे भिन्न न थे। वेदोंमें मानव जातिके कल्याणार्थ उत्तमोत्तम उपदेश भरे पड़े हैं। वेद संसारकी सभी धर्म-पुस्तकोंसे प्राचीन भी हैं। वेदोंसे अनेक उत्तम बातें संकलित कर अन्य ग्रन्थोंमें लिखी गयी हैं। ज्ञान-राशि होनेके कारण ही इनका नाम वेद है। वेद शब्द संस्कृत की विद् ज्ञाने धातुसे घञ् प्रत्यय हो कर सिद्ध होता है। जिसका तात्पर्य है ज्ञान-दायक अर्थात् जिससे जाना जाय। वेदोंके त्रयी, श्रुति, आम्नाय, स्वाध्याय, छन्द और निगमादि अनेक नाम हैं। वेदों की रचना गद्य, पद्य, और गीतिमें हुयी है। ऋक् पद्यमें है, यजु गद्यप्राय है, और साम गीति में लिखा गया है। सांख्यदर्शनकार ने वेद पुरुषकृत हैं या नहीं इस पर विवेचन करते हुये लिखा है:—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्।

(सांख्य सूत्र)

अर्थात् वेद पौरुषेय (किसी पुरुषके उद्योगका फल) नहीं हैं क्योंकि उनका कर्ता कोई मनुष्य नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा है:—

यो ब्रह्माणं विदधातिपूर्वं सर्वांश्च वेदान् प्रहिणोतितस्मै।

इनमें ऋग्वेद ज्ञान-प्रधान, यजुर्वेद कर्म-प्रधान, और सामवेद उपासना-प्रधान है। अथर्ववेदमें प्राय: पूर्वोक्त तीनों वेदोंके मन्त्रोंका संग्रह और व्याख्या है। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है:—

अग्नेर्ऋग्वेदो, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात्सामवेदः

(शतपथ ब्रा०)

अथर्वाऽङ्गिरसः।

(गोपथ ब्रा०)

अर्थात् ऋग्वेद अग्नि ऋषिसे, यजुर्वेद वायुसे, सामवेद सूर्य से और अथर्ववेद अङ्गिरस ऋषि द्वारा प्रकट हुआ। पहले ये वेद इस प्रकार विभक्त न थे। बहुत काल पीछे महर्षि वेदव्यासने उन्हें संहिताओं के रूपमें विभक्त कर दिया। अतएव इन महर्षिका नाम भी वेद-व्यास हो गया।

उपवेद

उपवेद भी चार हैं। प्रत्येक वेदका एक उपवेद है (१) ऋग्वेद का अर्थ वेद, जिसमें विज्ञान, कलाकौशल, कृषि, वाणिज्य इत्यादि धन उत्पन्न करनेके साधनोंका वर्णन है (२) यजुर्वेदका धनुर्वेद जिसमें राजनीति, अस्त्र-शस्त्र की कला, और युद्ध विद्याका निरुपण

है। (३) सामवेदका गन्धर्ववेद जिसमें संगीत शास्त्रका विशद वर्णन है। (४) अथर्ववेदका आयुर्वेद, जिसमें वनस्पति, रसायन और शारीरिक शास्त्र इत्यादिका वर्णन है।

वेदांग

वेदके अंगोंको ही वेदांग कहते हैं। जिस प्रकार हमारे नाक, मुंह आदि अंग है, उसी प्रकार वेदके भी (१) शिक्षा (२) कल्प (३) निरुक्त (४) व्याकरण (५) छन्द और (६) ज्योतिष ये छः अंग हैं। वेदको शरीरधारीका रूपक देते हुये विद्वानोंने कहा है :—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामायनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

अर्थात् छन्द वेदके पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र है, निरुक्त कान है, शिक्षा नाक है और व्याकरण मुख है।

शिक्षा—जिसके द्वारा लौकिक एवं वैदिक शब्दोंके उच्चारण ठीक-ठीक जाने जायं उसे शिक्षा कहते हैं। इस शास्त्रमें शब्दोंके उच्चारण स्थान, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत इत्यादि विषयोंके विशेष नियम और स्वर व व्यञ्जनके भेदानुभेद बताये गये हैं। इस शिक्षाके अनुसार मन्त्रों तथा वाक्यों का शुद्ध उच्चारण न करनेसे बड़ा भ्रम उत्पन्न हो सकता है। कहीं २ तो वाक्यों का अर्थ ही पलट जाता है। महाभाष्यके लेखानुसार तो एक शब्दके भी अच्छी तरह जान लेने तथा ठीक प्रयोग करनेसे इहलोक एवं

परलोकमें सुखकी प्राप्ति होती है। शिक्षा ग्रन्थोंमें पाणिनीय शिक्षा और याज्ञवल्क्य शिक्षाका स्थान मुख्य है।

कल्प—वेदमें कहे मंत्र सम्बन्धी क्रिया-सिद्धान्तका जिसमें वर्णन किया गया हो उसे कल्प शास्त्र कहते हैं। इस शास्त्रके तीन भाग हैं। (१) श्रौतसूत्र, जिनका सम्बन्ध वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थोंसे है। (२) गृह्यसूत्र, जिसमें गृहस्थके प्रत्येक कर्मकी विधि विस्तारपूर्वक बतलायी गयी है। (३) धर्मसूत्र, जिसमें वर्ण तथा आश्रमोंके कर्तव्योंका यथावत् प्रतिपादन किया गया है। इन्हींके आधार पर अनेक स्मृतियोंकी रचना हुयी। संक्षेपसे लाट्यायन द्राह्यायण इत्यादि प्रणीत ग्रन्थोंको श्रौतसूत्र, आश्वलायन, गोभिल पारस्कर इत्यादि प्रणीत ग्रन्थोंको गृह्यसूत्र तथा बौधायन, आपस्तम्ब कात्यायन आदि प्रणीत ग्रन्थोंको धर्मसूत्र कहते हैं।

व्याकरण—जिसके द्वारा शब्दोंकी व्युत्पत्ति, उच्चारण तथा शुद्धाशुद्धका परिज्ञान हो, उसे व्याकरण कहते हैं। वेदार्थ जाननेके लिये व्याकरणका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। अतएव महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलिने उसे सब वेदाङ्गोंमें मुख्य माना है। वेदोंकी रक्षा, सुन्दर तर्क-ज्ञान, आगम-ज्ञान और सन्देह-निवृत्ति ये चार व्याकरण पढ़नेके फल उन्होंने बतलाये हैं। व्याकरण में नौ व्याकरण बहुत प्रसिद्ध है :—

ऐन्द्रं, चान्द्रं, काशकृत्स्नं, कौमारं, शाकटायनम्।
सारस्वतञ्चापिशलं, शाकलं पाणिनीयकम्॥

अर्थात्—ऐन्द्र (इन्द्रका बनाया हुआ), चान्द्र (चन्द्र-कृत), काशकृत्स्न (काशकृत्स्न-रचित), कौमार (कुमार-निर्मित), शाकटायन (शाकटायन-रचित), सारस्वत (सरस्वती सम्बन्धी), आपिशल (आपिशली-कृत), शाकल (शाकल-सम्पादित), पाणिनीय (पाणिनि-कृत)। इनके अतिरक्त स्फोटा-यन, पौष्करशादि, दौर्ग, हैम, कातन्त्रादि व्याकरणोंका यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। किन्तु कालके चक्रमें इनमेंसे प्रायः विलुप्त हो गये। आज कल पाणिनि-व्याकरण विशेषतया प्रसिद्ध एवं मान्य है।

निरुक्त—जिसके द्वारा वेद समझनेमें उचित सहायता मिलती है उसे निरुक्त कहते हैं। इसके बिना साधारण योग्यताके लोग वेद नहीं समझ सकते। साधारण ही क्या, बड़े-बड़े विद्वान भी उस समय चक्रमें पड़ जाते हैं, जब एक शब्द अनेकार्थों का बोध करानेकी क्षमता लेकर उपस्थित होता है। जिस प्रकार राजनीतिमें समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र और इतिहासका सन्मिश्रण रहता है, उसी प्रकार निरुक्तमें व्याकरण, भाषा-विज्ञान, मीमांसा और साहित्य शास्त्र का योग रहता है। तो भी इसमें व्याकरणका अंश प्रधान है। इसमें वैदिक शब्दोंकी रचना और उनके शुद्धत्वाशुद्धत्वका वर्णन है। आज कल महर्षि यास्क का ही निरुक्त प्रसिद्ध है। पहले इस विषयके और बहुतसे ग्रन्थ थे, जिनका पता यास्कके निरुक्तमें दिये हुये नामों तथा उनके मतोंसे चलता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानोंके कथनानुसार महर्षि यास्कका समय ईसासे पूर्व पांचवी शताब्दी है किन्तु अधि-

कांश विद्वान उन्हें ईसासे लगभग साढ़े आठ सौ वर्ष पूर्वका मानते हैं।

छन्द:—जिसके द्वारा वेद-मन्त्रोंके छन्दोंका ज्ञान हो, उसे छन्द कहते हैं। छन्द शास्त्रमें यति, गण, मात्रा, चरण आदि विषयोंका वर्णन है। इस शास्त्रमें पिंगल सूत्र नामका ग्रन्थ विशेष महत्वशाली है जिसका निर्माण महर्षि पिंगलने किया है। इसमें साधारणतया लोकमें प्रयुक्त होने वाले लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकारके छन्दोंके यथार्थ लक्षण दिये गये हैं।

ज्योतिष—जिसके द्वारा ग्रह, नक्षत्र, सूर्य-चन्द्र-ग्रहणादिका ज्ञान प्राप्त किया जाय उसे ज्योतिष शास्त्र कहते हैं। ज्योतिष शास्त्रके प्रवर्तक १८ और कहीं १९ महर्षियोंके नाम मिलते हैं। आज कल लोगोंने इसे गणित और फलित दो विभागोंमें विभक्त कर दिया है। गणितके भी व्यक्त और अव्यक्त दो भेद माने जाते हैं। भारतीय गणितके विषयमें एक 'एलवरुनी' नामक प्रसिद्ध गणितज्ञ विद्वानने लिखा है,—'मैंने विश्वव्यापी समस्त भाषाओंके अंकोंका अध्ययन किया किन्तु किसी जातिमें हजारके आगेके लिये कोई नाम नहीं पाया, केवल भारतीय ज्योतिष शास्त्रके गणित-ग्रन्थोंमें अट्ठारह अंक तककी संख्याओंके नाम है, जिन्हें परार्ध कहते हैं।' श्री रमेशचन्द्र दत्तने लिखा है कि 'दशमलवके सिद्धान्तानुसार अंकोंके रक्खे जानेके लिये संसार भारतीयोंका चिरऋणी है।' इस गणित विद्याका अध्ययन, अरव वालोंने भारतीय ज्योतिषी विद्वानोंसे ही किया, इसीलिये वे इस विद्याको 'इल्मे हिन्दसा' अर्थात् भारतीय विद्या कहते हैं।

बीजगणित तथा रेखागणितके विषयमें प्रसिद्ध ज्योतिष शास्त्रका विद्वान 'मानियर विलियम्स' कहता है कि इन दोनों विषयोंका आविष्कार तथा उनका ज्योतिष शास्त्रके साथ सम्बन्ध करने वाले सर्वप्रथम भारतीय विद्वान ही हैं। डाक्टर थीबोका कथन है कि रेखागणितके लिये सारा संसार भारतीय ज्योतिषियोंका ऋणी है। किन्तु आज स्वार्थवश फलितशास्त्रके नामसे बहुत लोगोंने ज्योतिष शास्त्रको बदनाम कर दिया है। साधारणतया अशिक्षित लोग ज्योतिषका अर्थ हाथ देखना ही समझने लगे हैं। वास्तवमें फलितशास्त्र अटकल पर निर्भर है, अतः वह विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।

दर्शन शास्त्र

जिस शास्त्रमें सांसारिक दुःखोंके कारण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण द्वारा बताये गये हों, जिसमें ज्ञान, विज्ञान, भक्ति तथा आस्तिक्यके द्वारा ईश्वर-प्राप्तिका उल्लेख हो, जिसमें ईश्वर जीव, प्रकृति आदिके विशद विश्लेषण द्वारा आत्म दर्शन करा कर मुक्ति द्वार तक पहुंचानेकी सामर्थ्य हो, उसे दर्शन-शास्त्र कहते हैं। दर्शन छः हैं :—

(१) सांख्य—इसके निर्माता महर्षि कपिल हैं। इन्होंने तत्वोंके समूहके निर्णयार्थ इस दर्शनकी रचनाकी है। इसमें प्रकृति पुरुष की विवेचना की गयी है। सांख्यका सिद्धान्त है कि तत्वज्ञान का उदय होनेसे जब मनुष्य ठीक-ठीक अपने स्वरूपको समझ जाता है तभी उसकी मुक्ति होती है। कुछ लोग भ्रमवश सांख्यदर्शनकारको नास्तिक कहनेका साहस कर बैठते हैं। किन्तु सांख्य दर्शनमें अलौकिक

प्रत्यक्षकी सहायतासे ईश्वरको माना है। सांख्य दर्शन ही सब दर्शनों में प्राचीन है।

(२) योग—यह दर्शन महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलिका बनाया हुआ है। इसमें प्रारम्भमें योगकी परिभाषा देकर उसके साधनोंका निरुपण किया है। योगकी भिन्न-भिन्न अवस्थायें और सिद्धियां भी सविस्तर बतायी गयी हैं। योग पर श्रद्धा रखने वालोंके लिये यह दर्शन गुरुका काम देता है।

(३) न्याय दर्शन गौतम मुनिका बनाया हुआ है। इसमें संसारमें १६ पदार्थ माने गये हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाणों द्वारा किसी वस्तुको सिद्ध करनेके उपाय, उनके दोष और सांसारिक तत्वज्ञानकी बातें बतलाई गयी है। गौतमके मतानुसार उनके बतलाये हुए सोलह पदार्थोंके वास्तविक ज्ञानसे मुक्ति मिल सकती है।

(४) वैशेषिक दर्शन कणाद मुनिका बनाया हुआ है। कहते हैं, कणाद मुनि पृथ्वी पर गिरे हुये अन्नके कणोंको ही एकत्रित कर खाते थे, अतः इनका नाम कणाद पड़ गया। वैशेषिक दर्शन न्यायसे मिलता-जुलता है। केवल कहीं-कहीं अन्तर है, जैसे—गौतम सृष्टिमें सोलह पदार्थ मानते हैं और कणाद सात। इनकी शैली अधिक परिष्कृत है।

(५) वेदान्त—यह महर्षि वेद-व्यासका बनाया हुआ है। यह दर्शन ईश्वरके विषयमें बहुत गम्भीर एवं सूक्ष्म विचार उपस्थित करता है। दर्शनोंमें इसका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। अर्थ-भ्रमसे

बहुत विद्वानोंने इसके आधार पर अपने पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय तक स्थापित कर दिये। संसारके क्लेशोंसे दुःखी होकर परमात्माकी शरणमें जानेकी उत्कट इच्छा रखने वाले ही इसके अधिकारी हो सकते हैं।

(६) मीमांसा—यह जैमिनिका बनाया हुआ है। इसमें यज्ञादि कर्मकाण्डोंका विशद वर्णन और उनके द्वारा मोक्ष प्राप्ति बतलाई गई है। पूर्वकालमें बहुत दिनों इसका बड़ा प्रचार रहा किन्तु आगे चलकर जब अनेक लोगोंने कर्मकाण्डके नामपर अनाचार प्रारम्भ कर दिये तब बहुतसे लोगोंका ध्यान कर्मकाण्डसे हट गया। मीमांसादर्शनमें परमात्माके ईश्वर, मधुर, तथा ज्ञानस्वरूपकी क्रमशः सिद्धि की गयी है। ऐश्वर्य-भावमें परमात्मा अदृष्टका विधाता, पुण्यफलदाता, पापियोंके पापोंका शमन-कर्ता और धर्मका प्रतिष्ठाता माना गया है। यज्ञ उसका स्वरूप है, वेद उसकी वाणी या निःश्वास हैं और समस्त देवता (वसु रुद्रादि ३३) उसकी दैवी विभूतिके स्वरूप हैं। मीमांसा का पूर्व भाग वेद-विहित यज्ञादि कर्मोंके विषयमें तर्क-वितर्क-पूर्वक धर्म एवं कर्तव्य कर्मोंकी व्याख्या करता है। उत्तरभाग ज्ञान-वैराग्यके द्वारा सभी चराचर प्राणियोंमें परमात्माके स्वरूपको देखना और सबमें सम-भाव रखना सिखाता है।

हमारा भारतीय दर्शनशास्त्र अत्यन्त गम्भीर पुरातन, तथा पाश्चात्य दार्शनिक विद्वानोंका आदि-गुरु है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वान भी यह स्वीकार करते हैं कि जहाँ पाश्चात्य दर्शनकी समाप्ति होती है वहां भारतीय दर्शनोंका प्रारम्भ। योरोप, यूनान, अरब

आदि सभी देशोंके दार्शनिक विद्वान हमारे दर्शन शास्त्रोंके ऋणी हैं। मैक्समूलर साहबका कथन है कि जो राज्य उन्नतिके उच्चतम शिखर पर स्थित होता है, जिस राज्यमें भीतरी और बाहरी शत्रुओंकी कुछ भी आशङ्का नहीं होती, जिस राष्ट्रके लोग धन-सम्पत्तिकी वृद्धि के साथ साथ अनेक विद्यामन्दिर और विश्वविद्यालय स्थापित करके बिना किसी विघ्न-बाधाके विद्याकी आलोचनामें मन लगा सकते हैं उसी सभ्य समुन्नत राष्ट्रमें दर्शन शास्त्रका आविर्भाव होता है। मैक्समूलर साहबके इस कथनसे भारतीय राजनीतिक परिस्थिति पर भी बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

ब्राह्मण

इसके अतिरिक्त वेदोंकी व्याख्या करनेवाले ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। इनमें ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ मुख्य हैं। इनमें क्रमशः ऋग्, यजु, साम और अथर्वके कर्मकाण्डकी मुख्यतया व्याख्या की गयी है। ये ग्रन्थ वेदोंसे विशेष सम्बन्ध रखनेके कारण वेदोंके ही अन्तर्गत माने जाते हैं।

आरण्यक

बाहरी विषयोंसे इन्द्रियोंको रोक कर एकान्त निर्जन भूमिमें ब्रह्मचर्यका साधन करते हुये अत्यन्त गम्भीर भावसे महर्षियोंने जो वेदोंका विवेचन किया है उसे आरण्यक कहते हैं। इनमें भी वेदोंकी ही व्याख्या है।

उपनिषद्

जिनमें मुख्यतया ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन किया गया हो और जिनके द्वारा जीव परमात्माके समीप पहुंच सके, उन्हें उपनिषद् कहते हैं। यों तो लोग १०८ तक उपनिषदोंकी संख्या वतलाते हैं, कुछ लोग २८ भी मानते हैं किन्तु मुख्यकर ११ उपनिषद् प्रसिद्ध तथा माननीय हैं।—(१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य (१०) वृहदारण्यक (११) श्वेताश्वतर। भारतीय-साहित्यमें उपनिषदोंका बड़ा मान है। उनके प्रत्येक पदसे गम्भीर और नवीन विचार उत्पन्न होते हैं। उनमें सबसे उत्कृष्ट, पवित्र तथा सच्चे भाव विद्यमान हैं। समस्त संसारमें किसी विद्याका ज्ञान ऐसा लाभदायक और हृदयको उच्च उठानेवाला नहीं है जैसा कि उपनिषदोंका है। वैदिक ज्ञानकी प्राप्तिके लिये उपनिषदोंका अध्ययन करना प्रत्येक भारतीयका कर्तव्य है।

स्मृति

वेद-विदित धर्मका स्मरण कर लिखे गये अथवा वेद-विदित धर्मोंका स्मरण दिलानेवाले ग्रन्थोंको स्मृति-ग्रन्थ कहते हैं। इनमें वेद मन्त्रोंका आश्रय लेकर प्रायश्चित, वर्ण-धर्म, आश्रमधर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म, शुद्धि, संस्कार, पञ्चमहायज्ञ, भक्ष्याभक्ष्य आदि व्यवहारिक धर्मोंका विवेचन किया जाता है। श्रुति और स्मृतिमें यही अन्तर है कि—श्रुति अपौरुषेय है और स्मृति पौरुषेय। श्रुति स्वतः

प्रमाण है, और स्मृति श्रुतिके अनुकूल होनेके कारण। स्मृतियोंके प्रसिद्ध विद्वान् मिस्टर कीथने १५२ स्मृतियोंका उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्यने अपनी स्मृतिमें २० स्मृतियोंके नाम दिये हैं। ये उनके समयमें विद्यमान रही हैं। किन्तु आजकल मुख्य अठारह स्मृतियां मानी जाती हैं। इनमें मनुस्मृति विशेष प्रसिद्ध है। इसमें १२ अध्याय है। जिनमें प्रायः सभी आवश्यक विषयोंपर विचार किया है। अन्य स्मृतिकारोंने भी मनुस्मृतिकी महत्ता स्वीकार की है। याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, हारीत, उशनस, अङ्गिरस, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख, दक्ष, शतातक और वशिष्ठकी रची हुयी स्मृतियां भी उन्हींके नामोंसे प्रसिद्ध हैं। इनमें सबके अपने भिन्न दृष्टिकोण हैं। रचना के मध्यकालीन होनेके कारण इनके विषयमें यह कहना कठिन-सा है कि इनमें कितना मूल है और कितना प्रक्षिप्त।

पुराण

इन सब ग्रन्थोंमें वेद स्वतःप्रमाण है और शेष परतःप्रमाण अर्थात् वे वेदोंके अनुकूल होनेके कारण प्रमाण माने जाते हैं। यों तो पुराण-ग्रन्थ भी प्राचीन है। उनमें भी कितने ही उच्च तथ्य इधर-उधर बिखरे हैं। ये व्यासजीके बनाये कहे जाते हैं किन्तु अब अन्वेषणसे इतना सिद्ध हो चुका है कि सब पुराणोंकी रचना न तो एक व्यक्ति द्वारा हुयी है और न एक कालमें। साथ ही पुराणोंमें अनेक बातें गूढ़ अलङ्कारों द्वारा वर्णित है। कहीं-कहीं रचना अत्यन्त प्रौढ़ और

कहीं अत्यन्त अव्यवस्थित तथा ऊटपटांग है। सम्भव है, बहुत प्रयत्न करनेपर उनमेंसे सत्यासत्यका पृथक् विभाग किया जा सके किन्तु यह अत्यन्त कष्ट-साध्य है; और साध्य भी है या नहीं यह दावेके साथ नहीं कहा जा सकता। जो हो इतना तो स्पष्ट ही, है कि पुराण-प्रमाण कोटिके ग्रन्थोंमें कदापि नहीं आसकते। हां काव्यत्वकी दृष्टिसे अध्ययन करनेपर उनमें यत्र-तत्र अवश्य आनन्द आता है।

इतिहास

प्राचीन इतिहास ग्रन्थोंमें रामायण और महाभारतका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है रामायण तो संस्कृत-भाषाका आदि-काव्य माना जाता है। इसकी रचना महर्षि वाल्मीकि द्वारा हुई है। ये संस्कृतके आदि कवि हैं। कहते हैं, एक दिन रति-मग्न क्रौञ्चपक्षियोंमेंसे एकको एक बहेलियेने मार डाला। महर्षि वाल्मीकि स्नान करने जा रहे थे। उन्होंने मार्गमें यह दृश्य देखा। उनका करुणा-पूर्ण हृदय फूट निकला और उनके मुंहसे सहसा इस श्लोककी सृष्टि हुयीः—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्च-मिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

यह संस्कृतका पहला श्लोक है। रामायणमें रामकथा विस्तार-सहित वर्णित है। महाभारत व्यासजी का बनाया हुआ है। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि प्राचीनकालमें वेदव्यासके नामपर धार्मिक उपदेश देनेवाले गद्दीधर विद्वान् साधारणतया व्यास कहे जाने लगे थे। यही कारण है कि अनेक ग्रन्थ व्यास रचित पाये

जाते हैं। किन्तु ये सब एक ही व्यासके बनाये हुये नहीं हैं। गीता इसी महाभारतका अंग है। गीताके महत्वको सारा विश्व स्वीकार कर चुका है। महाभारतकी रचना भी बहुत प्रौढ़ है। इसके ऐतिहासिक उपाख्यान भी स्वाभाविक हैं। अतिरञ्जनाका प्रायः अभाव है किन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसपर प्रक्षेपक विद्वानोंकी सत्कृपा नहीं हुई है। जो हो ये दोनों ग्रन्थ संस्कृत साहित्य के भूषण हैं। धार्मिकता तथा प्राचीन संस्कृतिका अध्ययन करनेकी दृष्टिसे भी ये बड़े उपयोगी हैं।

ये उपर्युक्त धार्मिक ग्रन्थ आर्ष माने जाते हैं। हिन्दू जनता इन्हें आदरकी दृष्टिसे देखती है। वैदिक धर्ममें प्रक्षिप्त (वेदोंके प्रतिकूल) अंशोंको छोड़ कर वेदानुकूल भाग प्रमाण माने जाते हैं।

चार आश्रम

साधारणतया मनुष्यकी आयु सौ वर्षकी मानी गयी है। ब्राह्मणोंमें लिखा है 'शतायुर्वै पुरुषः' अर्थात् पुरुष की आयु सौ वर्षकी अवश्य ही होती है। हम परमेश्वरसे सायं-प्रातः सौ वर्षकी आयुके लिये प्रार्थना करते हैं, 'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्' इत्यादि। आजकल भी, जब कि प्रायः प्राचीनकाल की अपेक्षा भक्ष्याभक्ष्यका उचित विचार कम किया जाता है, कुछ लोगों की आयु सौ वर्षकी हो ही जाती है। आयुके सम्पूर्ण भागका एक कार्यमें व्यतीत करना न तो उचित ही है और न सम्भव ही। व्यय प्रायः आयके ऊपर निर्भर रहता है। व्यय करनेके लिये कुछ न कुछ आय अवश्य चाहिये। इसीलिये हमारे महर्षियोंने आयुको चार भागोंमें विभक्त कर दिया है। इनमें से प्रत्येक भाग आश्रमके नामसे प्रसिद्ध है। प्रथम भाग ब्रह्मचर्याश्रम, द्वितीय गृहस्थाश्रम, तृतीय वानप्रस्थाश्रम और चतुर्थ सन्यासाश्रम कहलाता है।

ब्रह्मचर्याश्रम जीवनका सबसे मूल्यवान अंश है। यदि जीवनको एक वृक्ष मान लें तो ब्रह्मचर्याश्रमको उसका मूल मानना पड़ेगा। शेष तीनों आश्रम इसी पर ठहरते हैं। यदि प्रारम्भ ही बिगड़ गया तो मध्य एवं अन्त स्वयं ही बिगड़ जायगा। इसीलिये ऋषियोंने इसे प्रथम स्थान दिया है। प्राचीनकालमें गर्भाधानावस्था के बाद उत्तम

सन्तान उत्पन्न करनेके लिये बड़ा उद्योग किया जाता था। गर्भवती स्त्रियोंका रहन-सहन, आहार-व्यवहार सभी कुछ शास्त्रीय विधिसे सम्पन्न होता था। वे गर्भावस्थामें उत्तम-उत्तम आख्यायिकायें, महापुरुषोंके चरित्र तथा अन्य उत्तम कला-कौशलकी पुस्तकें पढ़ती थीं जिससे उनके अन्तःकरणमें उच्च-भाव उद्दीप्त रहें और उनका प्रभाव सन्तानोंपर पड़े। अर्जुनके द्वारा सुनाये हुये चक्रव्यूहभेदनका प्रभाव अभिमन्यु पर कितना पड़ा था? आज भी हम उस वीर तरुणकी पुण्य-कथाका स्मरण कर आर्य-जातिपर गर्व करते हैं। जन्मके पश्चात् माताको सर्वदा ऐसा आचरण और संलाप करना चाहिये जो बालक पर उत्तम प्रभाव डाल सके। प्रायः मातापिता बालकको अबोध जानकर उसके सम्मुख यथेच्छ वार्तालाप और व्यवहार करते हैं, वे समझते हैं कि बालक कुछ समझता नहीं किन्तु यही बातें बालकके अन्तःकरण पर क्षीण रेखा खींचती हैं। बच्चा स्वभावसे जिज्ञासु और अनुकरण-प्रिय होता है। जैसा करते हुये अपने समीपियोंको देखता है वैसा स्वयं भी आचरण करता है। यही कारण है कि अग्निहोत्रियोंके बच्चे जब आपसमें खेलते हैं तो वे प्रायः यज्ञके और दूकानदारोंके बालक दूकानके ही खेल करते हैं। वायुमण्डलका प्रभाव जब सभ्य, शिक्षित और परिपक्व बुद्धिवाले लोगोंपर भी पड़ जाता है तो बालकोंका कहना ही क्या? अतः मातापिताका ध्यान इस बात पर बहुत अधिक होना चाहिये कि बच्चोंके सामने आदर्श वायुमण्डल रहे। वे शरारती और गन्दी आदतोंके लड़कोंके साथ खेलने और रहने

न पावें। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है:—'मातृवान् पितृवान् आचार्य-वान् पुरुषो वेद।' जिसका तात्पर्य यह है-कि जैसे माता, पिता तथा आचार्य होंगे वैसा ही पुरुष बनेगा। किन्तु आजकल तो प्रायः विपरीत ही होता है। यह प्रसिद्ध-सा है कि महापुरुषोंके लड़के निकम्मे होते हैं। वह विद्वान् भाग्यशाली माना जाता है जिसकी सन्तान भी सुशिक्षित हो। इसका कारण यही है कि माता-पिता बचपनसे बालकोंके अन्तःकरण पर प्रभाव डालनेकी चेष्टा नहीं करते और तब उद्योग करते हैं जब उनके हृदयमें दूसरे प्रकारकी प्रवृत्तियां घर कर लेती हैं। परिणामस्वरूप उनके उद्योग विफल होते हैं। अतः मातापिताको चाहिये कि अपनी सन्तानको जैसा बनाना चाहें, वैसा ही, वायुमण्डल अबोधावस्थासे उनके सामने उपस्थित रखनेका प्रयत्न करें।

ब्रह्मचर्य

बालककी माताके शिष्यत्वमें रहनेकी अवधि पांच वर्ष तक है। छटे वर्षसे यज्ञोपवीत होनेके समय तक उसे पिताके संरक्षणमें रखना चाहिये। इस आयु वालेको अपनी भाषा तथा व्यवहारिक विषयोंका साधारण ज्ञान कर देना चाहिये। तत्पश्चात् यज्ञोपवीत करा कर वेदारम्भ कराना चाहिये। मनुजीने ब्राह्मणके यज्ञोपवीतका समय ८ वें वर्ष, क्षत्रिय का १० वें वर्ष, और वैश्यका ११ वें वर्ष में बतलाया है। यह अन्तर छात्रोंके बुद्धि-विकास पर निर्भर है। योग्य बालकका यज्ञोपवीत इससे पूर्व भी हो सकता है। किन्तु इस

आयुके पश्चात् कोई भी बालक घर पर न रहे। कन्याओं और बालकों की पाठशालायें पृथक् २ होनी चाहिये। कन्या गुरुकुल पूर्णतया स्त्रियों तथा बालकोंके गुरुकुल पुरुषों द्वारा सञ्चालित होने चाहिये। पाठशालायें बस्तियोंसे दूर एकान्त में होनी चाहिये। जिससे विद्यार्थियोंसे नागरिकोंका विशेष सम्पर्क न हो। उनका कुलका जीवन पारिवारिक जीवनकी भाँति आकर्षक बन जावे। अध्यापक योग्य, आस्तिक एवं सदाचारी हों जिनका चरित्र छात्रोंके सम्मुख उत्तम आदर्श रख सके। गुरुकुल में जाने पर विद्यार्थियोंको सन्ध्या व अग्निहोत्र की विधि सिखलायी जानी चाहिये और उन्हें नित्य सन्ध्या-हवन करनेका अभ्यस्त बनाना चाहिये। यह मनुष्य मात्रका दैनिक धर्म है। विद्यार्थियोंके तो साधन का एक अंग है। सुविधाके लिये इसी पुस्तकके अन्तमें सन्ध्या और अग्निहोत्रके मन्त्र भी दे दिये गये हैं। प्रत्येक ८वर्षके बालक को उनका अभ्यास कर नित्यप्रति, प्रातः सायं संध्या-हवन करना चाहिये। यह दुर्भाग्यकी बात है कि आज देशमें ब्राह्मणोंको छोड़ कर अन्य जातियोंसे यज्ञोपवीत संस्कार की प्रथा उठ-सी गयी है। कुछ जातियोंमें विवाहके अवसर पर ही यज्ञोपवीत संस्कार होता है और बहुत सी जातियां तो अपने को अनधिकारी मान कर यज्ञोपवीत ग्रहण करनेका साहस ही नहीं करतीं। जिन बालकोंका यज्ञोपवीत संस्कार हो भी जाता है वे प्रायः, सन्ध्या-हवन तो दूर रहा, गायत्री-मन्त्र तक नहीं जानते।

आजकल अज्ञानवश कुछ लोग यह कह बैठते हैं कि जब देश इतना दरिद्र है कि अनेक पुरुषोंको भरपेट भोजन भी नहीं मिलता

तो व्यर्थ घी तथा अन्य पौष्टिक पदार्थोंको अग्निमें डाल कर जलानेसे क्या लाभ ? यदि सुगन्ध फैलानेसे तात्पर्य हो तो इत्र-तैलादि सुगन्धित पदार्थ घरमें रख लेने चाहिये। किन्तु वे यह नहीं जानते कि जिस वस्तु को हम जलाते हैं वह नष्ट नहीं हो जाती। उसका रूप बदल जाता है। पदार्थ-विद्या जानने वालोंको यह विदित है कि किसी वस्तुका सर्वथा लोप नहीं हुआ करता। जो पदार्थ अग्निमें डाले जाते हैं उनकी सुगन्ध वायुमें मिल कर सारे लोकोंको तृप्त करती है। स्वास्थ्य-दान देती है। अन्य सुगन्धित पदार्थोंकी गन्धमें वह भेदक-शक्ति नहीं है एक स्थानकी दूषित वायुको बाहर निकाल कर उसके स्थानमें शुद्ध वायुका प्रवेश करा सके। पर्याप्त अग्निहोत्र होनेसे वायु शुद्ध होती है और शुद्ध वायु होनेसे देश नीरोग रहता है। मेघ ठीक बनकर यथासमय वर्षा करते हैं। स्मृतिका कथन है:—

अग्नौ दत्ताऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायतेवृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यके समीप जाती है अर्थात् तेजमें मिलती है जिससे सुन्दर मेघ बनकर स्वास्थ्यकर जल बरसाते हैं। वर्षासे अन्न उत्पन्न होता है और अन्नसे जनताका पालन होता है। यज्ञमें बोले जाने वाले मन्त्र यज्ञ तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले विषयोंकी व्याख्या करते हैं। मंत्र बोलनेसे वे कण्ठ हो जाते हैं। यज्ञ वेदोंकी रक्षा तथा अनुशीलनका भी एक साधन है। अतः आहुतियों तथा अन्य यज्ञ-सम्बन्धी कार्योंके साथ मन्त्रोच्चारणका

विधान किया गया है। वहुतसे लोग यह भी समझते हैं कि अग्नि एक देवता है और दी-हुई आहुति उसके मुखमें जाती है। अतः बढ़िया-बढ़िया खाद्य पदार्थ भी यज्ञमें आहुतिके लिये रखने चाहिये। किन्तु यह भ्रम है। यज्ञका तात्पर्य बतलाया जा चुका है। अग्नि कोई जीवधारी देवता नहीं है, यह भी प्रसंगवश बतलाया जायगा। यहाँ पर यही समझ लेना चाहिये कि हवनमें आहुतियोंके लिये सुगन्धित स्वास्थ्यवर्धक, रोग-कीटाणु-नाशक शुद्ध पदार्थोंका ही व्यवहार उचित है।

यज्ञोपवीत होते ही अर्थात् गुरुकुलमें प्रविष्ट होते ही विद्यार्थीको संध्याका भी अभ्यास करना चाहिये। सन्ध्या, जिसके द्वारा अच्छे प्रकारसे परमात्माका ध्यान किया जाय, उसे कहते हैं। संध्या और अग्निहोत्र आत्म शुद्धिके भी अपूर्व साधन हैं। नित्य प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर शौच स्नानादिकसे निवृत्त हो सन्ध्या-वन्दनार्थ बैठ जाना चाहिये। सन्ध्याकी विधि इस पुस्तकमें अन्यत्र दे दी गयी है। सन्ध्याके समय इस बातका ध्यान ध्यान रखना चाहिये कि जबतक सन्ध्या की जाय तबतक चित्त स्थिर होकर केवल परमात्माका ही ध्यान करे। सन्ध्यामें प्राणायाम और गायत्री जाप भी सम्मिलित है। प्राणायाम तो अमूल्य निधि है। जो मनुष्य प्राणायाम करता है उसमें प्रति-क्षण ज्ञानका प्रकाश और अशुद्धिका नाश होता जाता है। मनुजीने लिखा है—

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

"जैसे अग्निमें डालनेसे सुवर्णादि धातुओंका मल नष्ट हो जाता है और वे शुद्ध हो जाते हैं उसी प्रकार प्राणायामसे समस्त इन्द्रियोंके दोष दूर हो जाते हैं"। जैसे अत्यन्त वेगसे वमन होनेपर अन्न-जल बाहर निकल जाता है वैसेही प्राणको बाहर फेंककर बाहर ही यथा-शक्ति रोक दे। जब प्राणको बाहर निकालना चाहे तो मूलेन्द्रियको ऊपर खींच रक्खे। जबतक मूलेन्द्रिय ऊपर खिची रहेगी तब तक प्राण बाहर रहेगा। जब कुछ घबराहट मालूम होने लगे तब वायुको धीरे-धीरे भीतर लेले। फिरभी वैसेही करता जाय। और मनमें 'ओ३म्' का जप करता रहे। इससे आत्मा और मनकी पवित्रता तथा स्थिरता होती है। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र और सूक्ष्म हो जाती है। गायत्री-जापसे बुद्धिकी शुद्धि होती है। वैदिक साहित्यमें गायत्रीका बड़ा महत्त्व है। सन्ध्याके बाद यथाशक्ति अर्थ ज्ञान सहित गायत्रीका नित्य जप करना चाहिये। सन्ध्याको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं।

कुछ लोग तीन बार भी सन्ध्या करना बतलाते हैं। यों तो परमेश्वरका जितना अधिक ध्यान किया जाय उतना ही अच्छा है, किन्तु उसे सन्ध्या नहीं कह सकते। संध्याका विधान दिन और रात्रिकी सन्धिके समय ही है। उस कालको भी सन्ध्या कहते हैं। मध्याह्न किन्हीं दो कालोंका सन्धिकाल नहीं है। योंतो प्रति-क्षण व्यतीत और आने वाले क्षणकी सन्धि होती रहती है। प्रति-प्रहरको तो सन्धिकाल मान ही सकते हैं। मनुजीने भी प्रातः और सायंकालको ही सन्ध्याकी विधि बतलायी है। उन्होंने कहा है कि,

जो सन्ध्या प्रातः नक्षत्र रहते ही की जाय वह उत्तम, तारों-के लुप्त होने पर हो वह मध्यम, और सूर्योदयके बाद होने वाली निकृष्ट है। इसी प्रकार उन्होंने सायंकालकी भी विधि बतलायी है किन्तु मध्याह्नका कहीं जिक्र भी न किया। मनुजीने यह भी लिखा है कि जो प्रातः-सायं सन्ध्योपासन नहीं करता उसे ब्राह्मण न कह कर शूद्रों में गिनना चाहिये:—

नोपतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः॥

जो प्रातःकाल और सायंकालकी सन्ध्या नहीं करता उसे शूद्र के समान सभी द्विज-कार्योंसे बहिष्कृत कर देना चाहिये। अतः विद्यार्थियोंको अवश्य ही सन्ध्योपासन करना चाहिये।

वैसे तो ब्रह्मचर्यके कई अर्थ हैं किन्तु आजकल इसका प्रयोग प्रायः वीर्य रक्षाके अर्थमें होता है। इस दृष्टिसे ब्रह्मचर्य तीन प्रकारका है:—कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। २४ वर्ष तक जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादि विद्या और सुशिक्षा ग्रहण करनेवाला कनिष्ठ ब्रह्मचारी कहलाता है। इसे वसु ब्रह्मचारी भी कहते हैं। इसके शरीरमें प्राण बलवान् होकर सब शुभ गुणोंके वास करानेवाले होते हैं। जिसके द्वारा मनुष्य ४४ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचारी रहकर वेदा-भ्यास करता है उसे मध्यम ब्रह्मचर्य कहते हैं। इसका पालन करने वाला रुद्र (दुष्टोंको रुलानेवाला और श्रेष्ठोंका पालन करने वाला) ब्रह्मचारी कहलाता है। उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष तककी आयुका होता

है। इसका पालन करनेवाला आदित्य ब्रह्मचारी कहलाता है। वह महान् तेजस्वी, प्रतिभाशाली, विद्वान्, बलवान् और लोकमें पूजित होता है। यह छान्दोग्य उपनिषद्का मत है। मनुजीने भी लिखा है:—

षट्त्रिंशाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥

आठवें वर्षके पश्चात् ३६ वर्ष अर्थात् ४४ वर्षकी आयुतक, प्रत्येक वेदको साङ्गोपाङ्ग पढ़ने में १२ वर्ष व्यतीत करते हुए, ३६ वर्षमें, तीनों वेदोंका अध्यन करे। अथवा अठारह वर्ष अर्थात् २६ वर्षकी आयुतक या चतुर्थ ६+८=१७ वर्ष तथा जबतक पूर्ण विद्या प्राप्त न कर ले तबतक ब्रह्मचर्य रक्खे। सुश्रुतमें लिखा है कि वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता और परिहाणि ये ४ शरीरकी अवस्थायें होती हैं। १६ वें वर्ष की आयु तक सब धातुओंकी वृद्धि होती है। फिर २५ वर्ष तक यौवन, चालीसवें वर्ष तक पूर्णता और तदनन्तर किञ्चित्प-रिहाणि होती है। इसमें सब सांगोपाङ्ग, शरीरस्थ सकल धातु पुष्ट होकर पूर्णताको प्राप्त कर चुकते हैं। तदतन्तर जो वीर्य बढ़ता है वह शरीरमें नहीं ठहरता। यही उत्तम समय विवाहका है।

यह अत्यन्त खेदका विषय है कि आजकल ऐसे महत्व-पूर्ण विषय की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। माता पिता और गुरु इस विषय की पुत्रों अथवा शिष्योंसे चर्चा करना सभ्यताके बाहरकी बात समझते हैं। बालक भी यथाशक्ति इन बातोंको गुप्त रखनेकी चेष्टा करते हैं। उन्हें न तो इस विषयकी उत्तम शिक्षा मिलती है और न

सत्सङ्गति। परिणाम-स्वरूप वे बाल्यकालसे ही अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना प्रारम्भ कर देते हैं। अनेक बालक दुष्ट दुराचारियोंके शिकार हो जाते हैं और कितने ही स्वयं दुष्कर्मों द्वारा अपना वीर्य मिट्टीमोल नष्ट कर देते हैं। फलस्वरूप बचपनसे ही उनका मुख पीला पड़ जाता है, आँखें भीतर घुस जाती हैं, कमर झुक जाती है, थोड़ाका पाठ पाठ याद करने पर ही सिरमें पीड़ा होने लगती है, बाल पक जाते हैं। ऐसे विद्यार्थी चाहे जितने विषयोंकी बड़ीसे बड़ी उपाधियां पा लें, चाहे जितना धन एकत्र करलें, सर्व व्यर्थ है। जबतक उत्तम स्वास्थ्य नहीं, शरीरमें स्फूर्ति एवं उत्साह नहीं तबतक सारा संसार अन्धकारमय प्रतीत होगा। सत्य है:—

मरणं विन्दु-पातेन जीवनं विन्दु-धारणात्।

अर्थात् वीर्यकी एक बूंद भी शरीरसे गिरा देना मरण है और एक बूंदकी भी अपने भीतर रक्षाकर लेना जीवन है। जब मनुष्य रक्तका एक बूंद भी शरीरसे निकलता हुआ देखता है तो पश्चात्ताप करता है किन्तु वीर्य, जो ऐसे बीसों रक्तके विन्दुओंसे बनता है, उसे क्षणिक सुखके लिये जानबूझ कर भी निकालनेमें वह विशेष संकोच का अनुभव नहीं करता। यह कितने दुःखकी बात है। वेदमें कहा है:—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

अर्थात् ब्रह्मचर्यके बलसे देवता लोग मृत्युको जीत लेते हैं। भीष्म-

पितामहको ब्रह्मचर्यके बलसे ही यह शक्ति प्राप्त थी कि वे जब चाहें प्राण छोड़ें। प्राचीन कालमें लक्ष्मण, हनुमान जैसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। अभी अधिक न हुए जब महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीने अपनी अपूर्व ब्रह्मचर्य-शक्तिसे भारतवर्षको चकित कर दिया था। संसार के महापुरुषोंका जीवन-चरित्र पढ़नेसे विदित होता है कि उन सबका चरित्र-बल बहुत उच्च था। छोटी अवस्थामें विवाह करनेसे अनेक हानियां होती हैं। सुश्रुतमें लिखा है:—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥

अर्थात् सोलह वर्षसे कम आयुकी लड़कीमें २५ वर्षसे कम आयु के पुरुष द्वारा धारण किया हुआ गर्भ कुक्षिमें ही नष्ट हो जाता है। यदि दैवात् सन्तान उत्पन्न भी हो जाय तो शीघ्र ही मर जाती है। और यदि किसी प्रकार जीती भी रही तो बहुत दुर्बल रहती है अतः पूर्ण आयु प्राप्त होनेसे पूर्व कदापि गर्भ धारण न करना कराना चाहिये।

वीर्य-रक्षा वह सञ्जीवनी बूटी है जो मृतकोंको जीवन प्रदान करती है। सच्चा ब्रह्मचारी अपना, अपने देशका और संसारका उद्धार करता है। ऐसी विलक्षण शक्ति देनेवाला ब्रह्मचर्य कितने महत्वका है, यह बतलाना लेखक और उसकी तुच्छ लेखनीकी शक्ति से बाहर की बात है।

तैत्तरीयोपनिषद्में लिखा है कि जो कुछ पढ़ा या पढ़ाया जाय, यथार्थ सत्याचरण से। केवल सत्य विद्यायें ही पढ़नी चाहिये। वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन, वाह्य विषयोंसे मन हटा कर, अग्निहोत्र तथा अतिथियोंकी सेवा करते हुये, मनुष्य सम्बन्धी व्यवहारोंका यथायोग्य पालन और वीर्यकी रक्षा व वृद्धि करते कराते हुये, ही होना चाहिये। आज विदेशीय शासनके प्रभावसे प्राचीन पठन-पाठन प्रणालीका प्राय: अन्त हो गया है। पढ़ने वाले छात्रोंमें अधिकांश नौकरीकी इच्छासे पढ़ते हैं। एक दास-देशकी दासताका इससे बढ़ कर और कौन प्रमाण हो सकता है? जो लोग प्राचीन प्रणालीसे पढ़ते हैं उनमें अधिक संख्या ब्राह्मणोंकी होती है, यह अत्यन्त खेदजनक है, क्योंकि यदि ब्राह्मण ही विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि उससे विमुख रहें, तो विद्या, धर्म, राज्य और धनकी उन्नति कदापि नहीं हो सकती। साथ ही जो पढ़ा जाय वह सम्यक् परीक्षित हो। पाठ्य ग्रन्थ केवल वे ही होने चाहिये जो आर्य-संस्कृति, आर्य-राष्ट्रीयता तथा आर्यत्वाभिमानको जाग्रत कर सकें। जिन्हें पढ़कर विद्यार्थी सच्चे धार्मिक, राजनीतिज्ञ, व्यवहारादिमें कुशल एवं वेदादि शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता बन सकें। पाठ्य ग्रन्थोंकी परीक्षा निम्नलिखित बातोंको देखकर हो सकती है :—

(१) जो बात ईश्वरके गुण, कर्म, स्वभाव और वेदोंके अनुकूल हो वह सत्य और उससे विरुद्ध असत्य है।

(२) जो प्राकृतिक नियमोंके अनुकूल हो वह सत्य और इससे विरुद्ध असत्य है।

(३) जो धार्मिक, विद्वान् , सत्यभाषी एवं अनुभवी व्यक्तियों के उपदेशके अनुकूल हो वह सत्य और इसके विपरीत असत्य है।

(४) जो आत्माके अनुकूल पड़े वह उचित और जो अनुकूल न पड़े वह अनुचित है, किन्तु परीक्षकको सची आत्म-प्रेरणाकी पहचान होनी चाहिये।

(५) जो प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इन आठ प्रमाणोंसे सत्य ठहरे वह सत्य और उससे भिन्न असत्य है।

इस प्रकार सत्य और पठनीय ग्रन्थोंका निश्चय कर अध्ययन करना चाहिये। यह अध्ययन-विधि केवल बालकोंके लिये ही नहीं बालिकाओंके लिये भी है। बालिकाओंको गृह-सञ्चालन-विधि, सीना, पिरोना, पाकशास्त्र आदिकी अन्य शिक्षायें भी देनी चाहिये। यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययन विधि भी बालक-बालिकाओंके लिये समान है। कुछ लोग बालिकाओंको यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययनका अधिकार नहीं देना चाहते। वे कहते हैं, 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्।' अर्थात् स्त्री और शूद्र न पढ़ें। किन्तु यह अनुचित है। 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दतेपतिं' अर्थात् ब्रह्मचर्यसे कन्या युवा पतिका वरण करे यह शास्त्र वचन है। विवाहादि संस्कारोंमें अनेक मन्त्र ऐसे आते हैं जो कन्याको बोलने चाहिये। इससे उनका वेदाध्ययनका अधिकार सिद्ध होता है। कन्या यदि वेदोंका अध्ययन न करेगी तो कैसे मन्त्र बोलेगी और कैसे उनका तात्पर्य समझ सकेगी? इससे सिद्ध होता है कि बालकोंकी भांति बालिकाओंको भी वेदाध्ययन

करना चाहिये। वेदाध्ययनका अधिकार न देनेसे ही वे लोग कन्या-ओंको यज्ञोपवीत धारण करनेका अधिकार नहीं देना चाहिये क्योंकि यज्ञोपवीतधारीको ही वेदाध्ययनका अधिकार है, सो जब उन्हें वेदाध्ययनका अधिकार है तो यज्ञोपवीत धारण करनेका अधिकार सुतरां सिद्ध हो गया। रहा शूद्रका प्रश्न, सो जन्मसे कोई शूद्र या ब्राह्मण नहीं होता, यह बात वर्ण-विभागके वर्णनमें स्पष्ट करेंगे। अतः प्रत्येक बालक-बालिकाको वेदाध्ययनका अधिकार है। यजुर्वेदमें लिखा है:—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानिजनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय
यजु० अ० २६।२

अर्थात्—'जैसे मैं सब मनुष्योंके लिये कल्याणदायिनी वाणी अर्थात् वेदका उपदेश करता हूं वैसे ही तुम भी किया करो।' आगे उनके नाम भी स्पष्ट कर दिये हैं जिन्हें उपदेश करना चाहिये। वे येहैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य, उनके भृत्य, स्त्री तथा अति-शूद्र। जब वेदोंका प्रकाश ज्ञान देनेके लिये हुआ तो सभी जिज्ञासु उनका अध्ययन कर सकते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक ८ वर्षके बालक और बालिकाको गुरुकुलमें रह कर कमसे कम पच्चीस वर्षकी अवस्था तक ब्रह्मचर्य-पूर्वक वेद-वेदांगोंका अध्ययन करना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये कि वेदांगोंमें प्रायः सभी सृष्टि-विद्याओंका समावेश हो जाता है। ऐसा होनेसे ही देश शिक्षित एवं सभ्य बन सकता है वर्तमान शिक्षा-पद्धतिसे नहीं।

ब्रह्मचारीका जो सबसे आवश्यक कर्तव्य है, वह है यम और नियमोंका पालन। मनुजीने लिखा है:—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥

केवल नियमोंका ही नहीं यमोंका भी सेवन करना चाहिये। क्योंकि केवल नियमोंका पालन करने और यमोंका सर्वथा परित्याग कर देनेसे पतन हो जाता है। अहिंसा (किसीको कष्ट न देना), सत्य (सच सोचना, सत्य बोलना और सत्य ही करना), अस्तेय (मन, वचन, कर्मसे चोरी का त्याग) ब्रह्मचर्य (उपस्थेन्द्रियका संयम) अपरिग्रह (अत्यन्त लोलुपता तथा व्यर्थाभिमान-रहित होना) ये पाँच प्रकारके यम दर्शनोंमें बतलाये गये हैं। नियम भी पाँच प्रकारके हैं—शौच (स्नानादिसे पवित्रता) सन्तोष (निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं किन्तु जितना पुरुषार्थ हो सके उतना करना और हानि-लाभमें हर्ष व शोक न करना), तप (कष्ट सह कर धर्म-कर्मोंका अनुष्ठान), स्वाध्याय (पढ़ना), ईश्वर प्रणिधान (ईश्वरको भक्ति-विशेषसे आत्माका अर्पण)। इनका पालन करता हुआ ब्रह्मचारी अपने व्रतमें सफल होता है। इनके अतिरिक्त ब्रह्मचारीको चाहिये कि सदा अपनेसे बड़ोंके साथ नम्रतापूर्वक व्यव-करे। गुरुमें भक्ति रक्खे और नित्य प्रणाम करे। गुरुकी आज्ञाका पालन करना अपना धर्म समझे। जब गुरु खड़े हों तो बैठ कर उत्तर न दे। चलने पर सदा उनके पीछे चले। उनका नाम अत्यन्त सम्मानके

साथ ले। उनकी बुराइयों पर ध्यान न देकर सद्गुण ग्रहण करनेका उद्योग करे। गुरु तथा वृद्धोंकी सेवा करनेवाले ब्रह्मचारीकी आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं। मनुजीने कहा है :—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम्॥

अर्थात् अपने गुरुजनोंको प्रणाम करने वाले और वृद्धोंकी सेवा करनेवालेकी आयु, विद्या, कीर्ति और शक्तिकी वृद्धि होती है। वेदके पढ़ने पढ़ाने, सन्ध्योपासनादि पञ्च महायज्ञोंके करनेमें अनध्यायका विचार न करना चाहिये, क्योंकि ये नित्य-कर्म हैं। जिस प्रकार श्वास-प्रश्वास रात्रि दिन विना विश्राम लिये जाते हैं उसी प्रकार इन दैनिक कृत्योंमें भी अनध्याय ठीक नहीं।

ब्रह्मचारीको कुछ वस्तुओंका त्याग अत्यन्त आवश्यक है जिनमें, मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री और पुरुषका संग, सब प्रकारकी खटाई, प्राणियोंकी हिंसा, अंगोंका मर्दन, आंखोंमें अञ्जन, जूते और छाता मुख्य है। उसे द्यूतसे सर्वथा बचाना चाहिये और व्यर्थ किसीकी कथा व निन्दामें समय न बिताना चाहिये। स्त्रियोंके दर्शन, संग आदिसे भी पूर्णतया अपनेको बचाता रहे। सर्वदा एकान्तमें सोवे, वीर्य स्खलित न होने दे। यदि जान कर कभी वीर्य स्खलित कर दे तो जानो उसका ब्रह्मचर्य व्रत भंग हो गया। यदि भूलसे कभी अज्ञात अवस्था में ऐसा हो जाय तो उस पर महान पश्चात्ताप करे। थोड़ा आहार करे और दिनमें कभी न सोवे। पढ़नेमें सदैव सतर्क रहे। कभी आलस्य न करे क्योंकि:—

सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम्।

अर्थात् सुख चाहने वालेको विद्या और विद्या चाहने वालेको सुख नहीं मिल सकता। इसलिये विद्यार्थीको सतर्क और निरालस होकर विद्याध्ययन करना चाहिये। अपने अध्ययनकी पुस्तकोंके चुनाव पर बड़ा ध्यान रखना चाहिये क्योंकि जहां सत्साहित्य पशुको मनुष्य बनाता है वहां असत्साहित्य मनुष्यको पशु बना देता है।

इस प्रकार आठों प्रकारके मैथुनोंसे बच कर शास्त्रोक्त विधिसे ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ मनुष्य महान् तेजको प्राप्त करता है। यदि भारतीय बालक इस ओर थोड़ा भी ध्यान दें और इसी प्रकार की शिक्षा पर चल कर २५ वर्ष की आयु तक विद्याभ्यास करनेके पश्चात् गृहाश्रममें प्रवेश किया करें तो यह दलित, दीन भारत-भूमि भीष्म और अर्जुनोंसे भर सकती है। ब्रह्मचर्य सब आश्रमोंका मूल है। इसकी दुर्दशासे ही अन्य सब आश्रमोंकी दुर्दशा हो रही है और इसके सुधारसे ही अन्य सब आश्रमोंका सुधार हो सकता है।

गृहस्थाश्रम

जिस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम सब का मूल है उसी प्रकार गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंका आश्रय है। सभी आश्रमोंका पालन गृहस्थाश्रम द्वारा होता है। महर्षि मनुजीने गृहस्थाश्रम का महत्त्व बतलाते हुये लिखा है:—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥

जिस प्रकार सब छोटी बड़ी नदियाँ समुद्रमें आकर विश्राम पाती हैं उसी प्रकार ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास तीनों आश्रम गृहस्थाश्रममें विश्राम पाते हैं। क्योंकि अपनी अपनी भौतिक आवश्यकताओंके लिये सबको इसका आश्रय लेना पड़ता है। इस कथन से स्पष्ट है कि गृहस्थाश्रमके भारको सम्हालनेके लिये अत्यन्त मजबूत कन्धोंकी आवश्यकता है। मनुजीने कहा है :—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुत-ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्।

अर्थात् जिसका व्रत कभी खण्डित न हुआ हो, जिसने अटूट ब्रह्मचर्य-पूर्वक तीनों वेदोंका अध्ययन किया हो, यदि तीनों वेद न पढ़े हों तो दो अथवा एक वेदका ही यथोचित रीतिसे अध्ययन किया हो किन्तु ब्रह्मचर्य व्रत किसी भी अवस्थामें खण्डित न हुआ हो, ऐसा पुरुष गृहस्थमें प्रवेश करे। मनुजीके विचारसे ऐसा ब्रह्मचारी ही गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेका अधिकारी है। उसे विद्याध्ययनके पश्चात् गुरुसे आज्ञा लेकर विवाह करना चाहिये। मनुजी कहते हैं—

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।

गुरुसे आज्ञा लेकर स्नान कर वेदोक्त विधिसे समावर्तन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी घर लौट कर शुभ लक्षणों युक्त और अपने वर्ण के अनुकूल कन्यासे विवाह करे। वर्णकी अनुकूलताके सम्बन्धमें मनुजीका मत है कि ब्राह्मण युवा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन

वर्णकी कन्यासे; क्षत्रिय क्षत्रिय और वैश्य वर्णकी कन्यासे और वैश्य तथा शूद्र अपने २ वर्णकी कन्यासे विवाह कर सकते हैं। विवाहके समय यह ध्यान रखना चाहिये कि कन्या माताकी ६ पीढ़ियों तक की न हो और न पिताके गोत्र की हो। क्योंकि अपने परिचित कुलसे अतिरिक्त अन्य दूरस्थ गोत्रादिकी कन्यासे विवाह करनेमें स्नेहादि सम्बन्ध अधिक पुष्ट रहते हैं। जो बालक लड़कपनसे ही एक दूसरेसे परिचित रहेंगे उनका स्नेह-बन्धन होने पर कोई विलक्षण प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता। वैसे इस प्रथाके अनेक कारण हैं तथापि मातृ-श्रद्धा विशेषतया मातृ-कुलके परित्यागका कारण है। इसी प्रकार जहाँ बहिन या अपने कुलकी कन्याका विवाह हुआ हो, उस कुलकी कन्यासे विवाह करना भी उचित नहीं माना जाता। विवाह सम्बन्ध अपने स्थानसे कुछ दूर पर ही करना चाहिये क्योंकि समीपमें विवाह करनेसे अनेक हानियां होती हैं। न प्रेम-सम्बन्ध रहता है न स्त्री पुरुषका ही एक दूसरेके प्रति श्रद्धा-भाव। विवाह एक दो दिनका नहीं, जीवन भरका बन्धन होता है। अतः इस सम्बन्धको बहुत सोच विचार कर करना चाहिये। जो कुल सभ्य, शिक्षित, सदाचारी, संक्रामक-रोगहीन तथा सद्गुण-युक्त हो उसीमें विवाह करना चाहिये। ये ही बातें कन्याके विषयमें जान लेनी आवश्यक हैं। आजकल कालचक्रके फेरसे अन्य बातोंके साथ २ वैवाहिक विधिकी भी बड़ी दुरवस्था हो गयी है। विवाह सम्बन्धके विषयमें कन्या तथा युवकोंको बिल्कुल स्वतन्त्रता नहीं। माता पिता जब चाहते हैं उनकी इच्छाके विरुद्ध भी विवाह कर देते हैं। अनेक

वालकोंका विवाह सम्वन्ध तो गर्भमें ही निश्चित कर दिया जाता है। फलस्वरूप वहुत वड़ी संख्यामें वालविधवायें हिन्दू समाजकी कलंक कालिमाको अमिट वनाती जाती हैं। प्रत्येक नगरके वेश्या-गृह और व्यभिचार-केन्द्र इसी कुप्रथाके परिणाम हैं। प्राचीन कालीनमें ऐसी वात नहीं थी। कन्याओंको वर चुननेका अधिकार था किन्तु जव से मुसलमानोंने वलात् कन्याओंका सतीत्व भ्रष्ट करना आरम्भ किया तवसे 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा च रोहिणी' आदि वाक्य वना कर पण्डितोंने वचपनमें ही व्याह करा देना प्रारम्भ कर दिया। अवोध वालक अपने अनुकूल वर खोज न सकते थे। अतः यह कर्तव्य माता पिता पर छोड़ दिया गया। उस सामयिक प्रथा ने देश को यहां तक जकड़ लिया कि लोग उसे वेद-वाक्य मानने लगे जिसका फल हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। अथर्व वेदमें कहा है:—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।

(अथर्व०। काण्ड ११। प्र० २४। अ० ३। मं० १८)

अर्थात् जिस प्रकार लड़के ब्रह्मचर्य से पूर्ण होकर ब्रह्मचारिणी युवतीके साथ विवाह करते हैं उसी प्रकार कन्या ब्रह्मचर्य-सेवन-पूर्वक वेदादि शास्त्रोंको पढ़, पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षाको प्राप्त हो कर युवावस्थामें अपने सदृश युवा पतिका वरण करे। मनुजीने लिखा है:—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वन्तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥१॥

कामामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
नचैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥२॥

अर्थात् कन्या रजस्वला होनेके पश्चात् ३ वर्ष तक ठहरे और फिर अपने समान योग्यता, आयु तथा गुण-स्वभाव वाले पतिको चुन ले। किन्तु इतना ध्यान रहे कि उसका विवाह कभी गुणहीन से न हो, चाहे उसे सारा जीवन घर पर रह कर ब्रह्मचारिणीके ही रूपमें क्यों न व्यतीत कर देना पड़े।

आज कल देशमें एक कुप्रथाने बहुत घर कर लिया है और वह है दहेजकी प्रथा। इस हत्यारिणी प्रथाके कारण न जाने कितने माता-पिताओं और कन्याओंको प्रतिवर्ष आत्मघात कर लेना पड़ता है! अनेक माता-पिता भिखारी बन जाते हैं। कन्याका जन्म अनेक जातियों में अमंगल सूचक माना जाता है। प्रसन्नता प्रकट करना तो दूर रहा, माता-पिता उस दिन भोजनभी नहीं करते। बहुतसी कन्यायें चवाइनों को लालच देकर जन्म होते ही मरवा दी जाती हैं। कारण यह है कि उनके माता-पिता निर्धन होते हैं। उन्हें स्वयं ही भोजन नहीं मिलता। दहेजमें देनेके लिये ढेरों रुपये कहांसे आवें? दूसरी ओर जिनके लड़के होते हैं, वे उनके भरोसे कर्ज लेकर खर्च करते रहते हैं। वे समझते हैं कि व्याह होते ही सारा रुपया चुका देंगे। वे अनेक ठाठ बना कर कन्या वालोंको बहकाते और ठगते हैं। अनेक बातोंमें झगड़ा हो जाता है। बहुतसी कन्यायें विवाहिता होने पर भी पतिके यहां इसलिये नहीं बुलाई जातीं कि उनके पिता दहेजका पूरा पैसा

नहीं चुका सकते। केवल इसी अपराधके कारण बहुतसी नव-विवाहिता बालिकायें विष द्वारा अथवा रोगावस्थामें औषधि आदिका समुचित प्रबन्ध न होनेसे कालका शिकार बन जाती हैं। वर-पक्ष वालों को चिन्ता ही क्या? वे सोचते हैं कि हम लोग उच्च कुलके हैं। विवाहोंकी कमी नहीं। अच्छा है, एक बहू मर जायगी झट दूसरा व्याह हो जायगा और फिर दहेज मिलेगा। भला जिस समाजमें अबला बालिकाओंकी इस प्रकार दुर्दशा हो, उस समाजकी उन्नति कैसे हो सकती है? इस प्रथाका एक और कुपरिणाम यह हुआ है कि कन्या वाले अपनी बराबर हैसियत और कुल जान कर ही विवाह करते हैं, क्योंकि वे भी अपने बराबर पैसे वालेको ही दानका अधिकारी समझते हैं और कुलका तो कहना ही क्या! वह तो अवश्य उच्च होना चाहिये। लड़केको कौन देखता है। वर मिलना तो भाग्यकी बात है पर कुल और धन हाथमें है। कुल अच्छा न होगा तो सबलोग उँगली उठायेंगे। यह उँगली उठानेका भय बड़ा भयंकर है। इसके कारण अनेक योग्य, सुरूपा, शिक्षिता कन्यायें अयोग्योंके सिर मढ़ दी जाती हैं। और अनेक योग्य शिक्षित वरोंके गले अशिक्षित कन्यायें बांध दी जाती हैं। इसलिये इस घातक दहेज प्रथाका सर्वथा बहिष्कार कर देना चाहिये। मनुजी महाराजने आठ प्रकारके विवाहों का उल्लेख मनुस्मृतिमें किया है। उनमें सर्वोत्तम विवाह उसे माना है जिसमें एक दूसरेके पिता-मातामें किसी प्रकारका द्रव्यादान-प्रदान न हो। अधिकसे अधिक कन्याका पिता गाय, पुस्तकें या एक दो वस्त्र भेंट कर दें। और सबसे निकृष्ट विवाह वह माना है जिसमें लेन-देन

हो और कन्या प्रसन्नतासे नहीं, किन्तु रोती-चिल्लाती पतिके घरले जायी जाय। खेदका विषय है कि आज ये दोनों बातें प्रायः विवाहोंमें पाई जाती हैं। जिस प्रकार उत्तम साज सजा कर बरातें ले जायी जाती हैं, वह प्रथा भी प्राचीन नहीं है। मध्य-कालमें जब स्वार्थी लोग सामाजिक व्यवस्थायें तोड़ने लगे और कन्या द्वारा वरण न किये जाने पर भी बलात् वरे हुए व्यक्तिसे कन्या छीनने तकका साहस करने लगे, तब प्रत्येक राजा अथवा स्वयम्बरमें निमन्त्रित व्यक्ति आत्मरक्षाके लिये हाथी-घोड़ों आदिसे अपनी सेना सजा कर ले जाने लगे। मुसलमानी शासन-कालमें इस प्रथाको और भी प्रोत्साहन मिला। आज वही प्रथा अव्यवस्थित रूपमें चली आ रही है। बहुतसे लोग तो इतनी अधिक बारात ले जानेमें अपनी शान समझते हैं। जिससे पानी तक देनेकी शक्ति कन्यापक्षको न हो। लेखकको ऐसे अनेक बड़े-बड़े धनियों और जमींदारोंका स्मरण न है जो कन्याके विवाहमें ही धनीसे भिक्षुक बन गये। इससे कन्या पक्ष वालोंकी ही हानि होती हो सो नहीं, वर पक्ष वालोंका भी बहुत अपव्यय होता है। अतः बरातोंके अधिक सजाव-बनावकी प्रथा शीघ्र उठ जाना आवश्यक है। विवाह एक धार्मिक कृत्य है और शान्तिपूर्वक सम्पन्न होना चाहिये।

विवाहसे सम्बन्धित एक और दूषित प्रथा देशके अनेक भागोंमें वर्तमान है जो अत्यन्त लज्जाजनक है। बहुतसे लोग कन्या-विक्रय करते हैं। वे गुप्त अथवा प्रकाशित रूपसे वरके माता-पितासे कुछ रुपये ले लेते हैं और तब कन्या देते हैं। यह प्रथा ऊपर वर्णित वर-

विक्रय प्रथासे भी दूषित हैं। ऐसी वधुओंके साथ ससुरालमें क्रीत-दासीका-सा व्यवहार होता है। अतः प्रत्येक युवकका कर्तव्य है कि वह समाजकी इस कालिमाको मेटनेका भरसक प्रयत्न करे और गुण, कर्म, स्वाभादिसे निर्णीत वर्णोंमें से जिसकी कन्या लेनेका उसे शास्त्र-विधिसे अधिकार है उसी वर्णकी समवयस्क, शिक्षित और सुशीला कन्यासे विवाह करे। विवाहमें न लेन-देन हो और न भद्दा प्रदर्शन। पैसेका अपव्यय तो कदापि न होना चाहिये। कितनी लज्जाकी बात है कि आज जब हमारा देश परतन्त्र है, देशके अनेकों दीन बालक पैसेकी कमीसे पढ़नेका अवसर नहीं पाते, हम इस प्रकारके व्यर्थ प्रदर्शनोंमें अपना द्रव्य पानीकी तरह बहा देते हैं।

विवाह संस्कार वैदिक विधिसे करना चाहिये। कन्याको भी अपने आप आवश्यक स्थानों पर मन्त्रोच्चारण करना चाहिये। इस प्रकार वर-वधू दोनोंके सुपठित होनेसे गृहस्थ-जीवन सुखमय हो सकता है।

ब्रह्मचर्यावस्थामें केवल दो यज्ञ आवश्यक हैं किन्तु गृहस्थाश्रममें पांच हैं। उन पांचोंको मनुजीने इस प्रकार परिगणित किया है :—

ऋषि-यज्ञं, देव-यज्ञं, भूत-यज्ञं च सर्वदा।
नृ-यज्ञं, पितृ-यज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्।

मनु०, अ० ४।

गृहस्थको चाहिये कि जहां तक सम्भव हो ऋषियज्ञ, देवयज्ञ,

भूतयज्ञ, नृ-यज्ञ और पितृ-यज्ञका परित्याग न करे। उपर्युक्त पांचों यज्ञोंकी परिभापा करते हुए वे लिखते हैं :—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, पितृ-यज्ञश्च तर्पणम् ।
होमो दैवो, वलिर्भौतो, नृ-यज्ञोऽतिथिपूजनम् । ३।७०।
स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन् होमै र्देवान् यथाविधि ।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि वलिकर्मणा ॥ ३।८१।

वेदोंका पढ़ना, सन्ध्योपासन, योगाभ्यास ये सब ब्रह्म-यज्ञमें सम्मिलित हैं। विद्वानोंका संग, सेवा, पवित्रता, दिव्य गुणोंका धारण, अग्निहोत्र ये सब देव-यज्ञके अंग हैं। अथर्ववेदके १९ वें काण्डमें लिखा है कि सायङ्कालमें किया हुआ हवन प्रातःकाल तक वायु-शुद्धि द्वारा सुखकारी होता है और प्रातःकाल अग्निमें किया हुआ हवन सायङ्कालतक वायु-शुद्धि द्वारा वल, बुद्धि और आरोग्यका वर्धक होता है। इसलिये दिन और रात्रिकी सन्धिमें अर्थात् प्रातः और सायं परमेश्वरका ध्यान और हवन अवश्य करना चाहिये। मनुजीने तो यहां तक लिख दिया है कि जो मनुष्य ये दोनों काम सायं प्रातः नहीं करता उसे सब द्विज-कर्मोंसे वाहर निकल कर शूद्रवत् समझना चाहिये।

तीसरा यज्ञ है पितृ-यज्ञ। इसका अर्थ है, देव, विद्वान, ऋषि आदि श्रद्धेय व्यक्तियों तथा माता-पितादि वृद्ध जनोंकी सेवा करना। पितृ-यज्ञके दो रूप है। एक श्राद्ध दूसरा तर्पण। श्राद्धका अर्थ जो श्रद्धासे किया जाय और तर्पण जिससे तृप्त किया जाय। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है कि विद्वान ही देव हैं। चारों वेदोंके विद्वानको

ब्रह्मा कहते हैं। इसी प्रकार विदुषी स्त्रीको ब्राह्मणी और देवी कहते हैं। उनकी सेवा-सुश्रूषा करनेका नाम श्राद्ध और तर्पण है। इसे देव-तर्पण कहते हैं। इसी प्रकार ब्रह्माके पौत्रादि-पूर्ण विद्वान होकर अन्योंको विद्या दान करें तथा उनकी स्त्रियां कन्याओंको विद्या-दान करें। उनके तुल्य ही उनके पुत्र, शिष्य तथा सेवक हों। उनका सेवन और सत्कार करना ही ऋषि-तर्पण है। और परमात्मा तथा पदार्थ विद्याके ज्ञाता, विद्या-बुद्धियुक्त व्यवहार-कुशल, विविध-कला-विज्ञ, अग्निहोत्री, गुरु तथा पिता, पितामह, प्रपितामह, माता, पितामही, प्रपितामही, मातामही, ज्येष्ठ भ्राता, मामा, नाना आदि अपने से बड़े और पूज्य सम्बन्धियोंको सेवा, सत्कार, उत्तम अन्न, वस्त्र, यानादि अभिलषित पदार्थ श्रद्धापूर्वक प्रदानकर सन्तुष्ट करना पितृ-श्राद्ध और पितृ-तर्पण कहलाता है। यह श्राद्ध तर्पणादिक व्यवस्था जीवितोंके लिये हैं। मृतकोंके लिये नहीं।

वलिवैश्वदेव—जब भोजन तैयार हो जाय तो उसमें से वैदिक विधिके अनुसार ग्रास निकाल कर दुःखी बुभुक्षित प्राणी, कौवा, कुत्ता आदिको देनेका नाम वलिवैश्वदेव है। गृहस्थ अपने दैनिक व्यवहारमें अनिवार्य कारणोंसे अज्ञात अवस्थामें अनेक जीवोंकी हत्या कर जाता है, उसके प्रायश्चित्तके लिये यह प्रत्युपकारकी व्यवस्था की गयी है। हवन-विधि साथमें इसलिये है कि इससे पाकशालास्थ वायुकी शुद्धि होती है।

अतिथि-यज्ञ—अकस्मात् विना पूर्व निश्चित तिथिके आये हुये धार्मिक, विद्वान सदाचारी पुरुष अतिथि कहलाते हैं। ऐसे व्यक्ति

जब गृहस्थके यहां आवें तो उनको अभिवादनादिसे सत्कार कर पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय जल तथा उत्तम आसन प्रदान करे। पश्चात् यथाशक्ति उत्तम खान-पान, सेवा-सुश्रूषासे प्रसन्न करे, उनसे सत्सङ्ग करे और सदुदेश एवं ज्ञान-विज्ञानकी बातोंका श्रवण करे। यदि ऐसा व्यक्ति भी द्वार पर आ जाय जो विशेष पढ़ा-लिखा हो, साधारण गृहस्थ हो तो उसका भी श्रद्धापूर्वक सत्कार करना चाहिये। हां, वेद-निन्दक, वेद-विरुद्ध आचरण करने वाले, मिथ्या-भाषी, पाखण्डी और धूर्तोंका तो वाणी-मात्रसे भी सत्कार न करे। क्योंकि ये समाजके लिये अभिशाप हैं। इनके अतिरिक्त समागत सज्जनोंकी सेवा-सुश्रूषा करनेका नाम ही अतिथि-यज्ञ है।

इन यज्ञोंके करनेसे विद्या, शिक्षा, धर्म एवं सभ्यतादि की वृद्धि होती है। अनेक पापोंका पापश्चित्त, वायुशुद्धि, एवं स्वास्थ्य-लाभ होता है। अनेक सत्कृत्य केवल साधारण दैनिक कर्मोंसे ही सिद्ध हो जाते हैं। गृहस्थके लिये पञ्चमहायज्ञोंका वही फल है जो अन्य आश्रमस्थोंके लिये घोरतम तपस्याका। अतएव शास्त्रोंने इन्हें महायज्ञ माना है। इनका अनुष्टान करना प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य है।

गृहस्थको यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि उसने जिस आश्रममें प्रवेश किया है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गृहस्थाश्रम या विवाह केवल भोग-विलासके लिये नहीं है। विवाहका उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है, काम-तृप्ति नहीं। अतः विवाहोपरान्त भी गृहस्थ को बड़ा संयम रखना चाहिये। उसे यह भी न भूलना चाहिये कि

गृहस्थाश्रम एक गाड़ी है। पति-पत्नी इसके दो पहिये हैं। इन दोनोंका हृष्ट-पुष्ट होना आवश्यक है। एक पहिया कितना ही पुष्ट हो कभी भार वहन नहीं कर सकता। इसी प्रकार केवल पुरुष शिक्षित होनेपर भी घरका भार नहीं सम्हाल सकता। स्त्री-पुरुष दोनों जब परस्पर सन्तुष्ट होंगे तभी कुलका कल्याण हो सकता है। जहां कलह और विरोध रहता है वहां दुःख और दरिद्रता निवास करती है। इसलिये विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर इन आठ बातोंका विचार करके ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियोंका विवाह किया जाता है। मनुजीने, स्त्रियोंके साथ कैसे व्यवहार करना चाहिये, इस विषयमें लिखा है कि जो पिता, भाई, पति और देवरादि अपने कुलका कल्याण चाहते हों वे अपनी लड़कियों, बहनों पत्नियों, और भामियोंको आदरपूर्वक भोजन-वस्त्रादि आवश्यक वस्तुओंसे प्रसन्न रक्खें क्योंकि जहां स्त्रियां प्रसन्न रक्खी जाती हैं वहां देवता वास करते हैं, और सब प्रकारका आनन्द रहता है। और जहां वे प्रसन्न नहीं रखी जाती वहां के सब काम व्यर्थ हो जाते हैं। जिस कुलमें स्त्रियां दुःखी रहती हैं उसका शीघ्र नाश हो जाता है और जहां वे सुखी रहती हैं वहां सुख सम्पदा बढ़ती रहती है। इसलिये जो लोग अपने घर ऐश्वर्य एवं समृद्धि चाहते हैं उन्हें चाहिये कि सदा स्त्रियोंकी सुविधाओंका ध्यान रक्खें क्योंकि:—

शोचन्ति जामयो यत्र विनशत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तत्र सम्पदा॥

स्त्रीको भी सदा प्रसन्न रहना चाहिये और शुद्धता एवं दक्षता से घरका सब काम करना चाहिये। सब सामानकी व्यवस्था ठीक रखना, आय का हिसाब लगाकर व्यय करना, ये सब उसके कर्तव्य हैं। मनुजीने स्त्रियोंके पतनके छः कारण बतलाये हैं। स्त्रियों को उनसे बचना चाहिये। पुरुषोंका भी कर्तव्य है कि वे स्त्रियोंकी इस कार्यमें सहायता करें और उन्हें इनमें न फंसने दें। वे छः दूषण ये हैं:—

> पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
> स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसन्दूषणानि षट्॥

अर्थात् मादक द्रव्योंका सेवन, दुष्ट पुरुषों अथवा स्त्रियोंका सङ्ग पतिवियोग, अकेले जहां-तहां घूमना, पराये घरमें जाकर रहना, और अन्यत्र सोना। ये दूषण स्त्रियोंको बिगाड़नेवाले हैं। संक्षेपमें ये ही गृहस्थोंके कर्तव्य हैं, और भी जहां-जहां विशेष आश्रमका निर्देश न कर साधारण कर्तव्य बतलाये गये हैं वे प्रायः गृहस्थोंके लिये ही हैं।

संक्षेपमें यों कह सकते हैं कि इस आश्रमका कार्यकाल सन्तान, धन, ऐश्वर्य आदि की उत्पत्ति करने तथा उसके द्वारा अपने कुटुम्ब और अन्य आश्रमोंका पालन करनेके लिये है। किसी भी गृहस्थको यह न भूलना चाहिये कि अन्य तीनों आश्रम आवश्यक व्ययके लिये उस पर निर्भर करते हैं। सार्वजनिक संस्थाओंके भी आधार गृहस्थ ही है। अतः उन्हें चाहिये कि आवश्यकतानुकूल संचित कर यथाशक्ति दान द्वारा अन्य आश्रमों तथा परोपकारिणी संस्थाओंकी भी सहायता करते रहें। इस प्रकार दिये हुये द्रव्यका अधिक भाग

विद्या प्रचारमें जाना चाहिये। क्योंकिः—सर्वेषामेव दानानां ब्रह्म-दानं विशिष्यते। अर्थात् सब प्रकारके दानोंमें विद्याका दान अथवा विद्याके लिये दिया हुआ दान ही विशेष है। सात्विक, राजस, तामस इन तीनोंको यथास्थान पहचान कर ही दान करना चाहिये।

गृहस्थाश्रममें समय-समय पर अनेक कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। ऐसे भी अवसर आते हैं जब मनुष्यको निराश होना पड़ता है, अपमान सहना होता है, यातनायें भुगतनी पड़ती हैं। कभी-कभी उसका अन्तःकरण कहता है कि सन्मार्गपर चलनेसे ही ये सारे कष्ट भोगने पड़ रहे हैं। वह अनेक धूर्तों और पाखण्डियोंको फलता फूलता देखता है। ऐसे समय कभी-कभी बड़ा धर्म-सङ्कट उपस्थित हो जाता है। किन्तु उसे स्मरण रखना चहिये कि गृहस्थाश्रम भी उन किन्हीं आश्रमोंसे कम नहीं है जो तपश्चर्याके लिये नियत किये गये हैं। अतः धर्म-पूर्वक गृहस्थाश्रमका पालन करना भी एक महान् तप है। इसमें उत्तीर्ण होना सबका काम नहीं।

धन्य वह घर है जिसमें पुत्र-पुत्री सदाचारी और बुद्धिमान हैं। स्त्री मधुर भाषिणी है। अच्छे-अच्छे मित्र हैं। सुन्दर द्रव्यादिक एवं आवश्यक वस्तुयें विद्यमान हैं। पति-पत्नीमें परस्पर सच्ची प्रीति है। अतिथि-अभ्यागतका सत्कार होता है। सब परमेश्वरकी भक्तिमें लगे हैं। सब सुन्दर भोजन करते और प्रसन्न रहते हैं। साधु, विद्वानों का सत्संग करते और उनसे उपदेश ग्रहण करते हैं। ऐसा घर, घर नहीं, स्वर्ग है। प्रत्येक पुरुषको ऐसा ही घर बनाकर भारत भूमिको स्वर्गधाम बना देना चाहिये।

वानप्रस्थाश्रम

ब्रह्मचर्यमें उपार्जित की हुयी शक्ति गृहस्थाश्रममें धीरे-धीरे कम होती रहती है। और एक दिन उसके पुनः संग्रहकी आवश्यकता पड़ जाती है। सम्भवतः इसी अर्जन और व्ययको ध्यानमें रख कर शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है :—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्,
गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।

अर्थात् मनुष्योंको उचित है कि भलीभांति ब्रह्मचर्याश्रमको पूर्ण कर गृहस्थाश्रमका भार ग्रहण करें। और जब गृहस्थके कर्तव्य समाप्त हो जायं, तब वनस्थ होकर वानप्रस्थाश्रमके कर्तव्योंको पूर्ण करें और जब वानप्रस्थकी भी अवधि समाप्त हो जाय, तो सन्यस्त होकर भ्रमण करे। संक्षेपमें यही भारतीय आर्योंकी जीवन-चर्या है मनुजीका मत है कि जब मनुष्य देखे कि मेरे मुखमें झुर्रियां पड़ने लगी हैं और मेरे लड़के लड़कियोंके भी सन्तान हो गयी तो तपस्यार्थ वनको चला जाय। स्त्रीको या तो पुत्रोंकी संरक्षतामें छोड़ दे, वे उसका पालन करें अथवा, यदि चाहे तो, अपने साथ ही लेता जाय। उस अवस्थामें ग्रामका आहार, वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं का प्रयोग न करे। अग्निहोत्रका व्रत लेकर अर्थात् नैत्यिक हवन करता हुआ, अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखते हुये, संयम-पूर्वक वनमें निवास करे। वहां नाना प्रकारके बिना बोये हुये उत्पन्न होनेवाले

सामा इत्यादि अन्न, फल-फूल, शाक, मूल, कन्द इत्यादि से जीवन धारण करता हुआ पञ्चमहायज्ञोंको पूर्ववत् नियमितरूपसे जारी रक्खे।

वनस्थके लिये प्रायः वे ही नियम हैं जो ब्रह्मचारीके लिये हैं। मनुजी इन्हें इस प्रकार वर्णित किया है:—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥

अर्थात् पढ़ने पढ़ानेमें नित्ययुक्त, जितात्मा, सबका कल्याण चाहने तथा करनेवाला, इन्द्रियोंका दमनकरनेवाला, विद्वान् अथवा आगत अतिथियोंको आहारादि देनेवाला, किसीसे कुछ न लेने-वाला और सब प्राणियोंपर दया करनेवाला होकर रहे। अपने सुखोंकी बिल्कुल चिन्ता न करे, अर्थात् यह समझ कर, कि अमुक प्रकारका प्रबन्ध करनेसे मुझे विशेष शारीरिक आराम मिलेगा, कोई कार्य न करें। वीर्य रक्षाका सदा ध्यान रक्खे और पृथिवीपर ही सोया करे। घर-द्वारमें रहनेकी चिन्ता न करे अपितु वृक्षोंको जड़ोंको ही अपना घर समझे और वहीं रहे। स्त्री साथ रखते हुये आदर्श ब्रह्मचारी रहनेकी आज्ञा द्वारा शास्त्रोंने यह ध्वनन किया है कि वनस्थको प्रारम्भसे ही इन्द्रियजित् बनना चाहिये। जब वह इस प्रकार स्त्रीके साथ भी अरण्यमें अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करता

हुआ निवास कर सकेगा तभी उनसे सन्यासाश्रममें यह आशा की जा सकती है कि वह समस्त संसारका गुरु बनकर उसे उचित अनुचितका ज्ञान करा सके। ऐसा कठोर अभ्यास न होनेपर स्वयं उसीके पतनका भय बना रहेगा। जैसा आजकल देखा जाता है कि अनेक सन्यासियोंके अन्तःकरणमें त्याग-भावना होते हुये भी वे इस कारण पतित हो जाते हैं कि लोकमें उनका खूब आदर भाव होने लगता है। और चूंकि वे वानप्रस्थाश्रममें उग्र साधन किये हुये नहीं रहते, अतः थोड़ेसे आकर्षणसे लोकमें आसक्त हो जाते हैं जिसका फल उनका पतन होता है इसीलिये यजुर्वेदमें कहा है:—

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वादीक्षितो अहम्॥

यजु०, अ० २०, मं० २४।

अर्थात् वानप्रस्थको उचित है कि—मैं अग्निमें होम कर, दीक्षित होकर व्रत सत्याचरण और श्रद्धाको प्राप्त होऊं—ऐसी इच्छा करके वनस्थाश्रमको ग्रहण करे। और वनमें निवास करते हुये नाना प्रकारकी तपश्चर्या, सत्संग; योगाभ्यास एवं सुविचारसे ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करे। इस प्रकार जो शान्त विद्वान् उत्तम उत्तम कर्मोंका अनुष्ठान करते हुये स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंका उपकार करते हुये भिक्षासे अपना जीवन निर्वाह कर वनमें रहते हैं वे शुद्ध होकर प्राण द्वारसे उस परम पुरुष परमेश्वरको प्राप्त हो सदा आनन्द

यह अत्यन्त खेदकी बात है आज कल लोग प्रायः अन्त तक गृहस्थाश्रममें ही फंसे रहते हैं; और उस गृहस्थाश्रममें, जिसका संचालन भी वेदोक्त विधिसे नहीं होता। लोग शान्त एवं निश्चिन्त होकर समाज व देशकी सेवा तथा ईश्वर-चिन्तनमें विल्कुल समय नहीं लगाते। इसी दोषसे बचानेके लिये ऋषियोंने वानप्रस्थाश्रमका विधान किया था।

वानप्रस्थाश्रम समाप्त करनेके पश्चात् पुरुष सन्यास ग्रहण करें। और स्त्री भी राष्ट्रकी सेवार्थ सन्यासिनी बने। किन्तु इस अवस्थामें उनका पति-पत्नी भाव भी नष्ट हो जाना चाहिये।

सन्यासाश्रम

मनुजीने लिखा है:—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥

मनु० । अ० । ३३ ।

अर्थात् इस प्रकार वनमें विचरण करते हुए आयुका तृतीय भाग समाप्त कर चौथी अवस्थामें सबका संग छोड़ कर परिव्राजक अर्थात् सन्यासी हो जावे। अथवा ब्राह्मण ग्रन्थोंमें ऐसा भी लिखा है कि जब कभी पूर्ण वैराग्य प्राप्त हो जावे तभी सन्यास ग्रहण कर ले। पूर्ण वैराग्य प्राप्त होने पर गृहस्थ अथवा वानप्रस्थाश्रममें रहना अनिवार्य नहीं। इस अवस्थामें ब्रह्मचर्य अथवा ग्रहस्थाश्रमसे सीधे

सन्यास ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु ब्रह्मचर्याश्रमसे सीधे सन्यास उसीको ग्रहण करना चाहिये जो पूर्ण विद्वान्, जितेन्द्रिय भोग-विषयकी कामनासे रहित और परोपकार करनेकी इच्छासे युक्त हो। परमेश्वरकी प्राप्तिके निमित्त यज्ञ करके उसमें यज्ञोपवीत और शिखा आदि चिह्नोंको छोड़, पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की भी आहुति दे दे। केश, नख, दाढ़ी, मूछोंको मुड़ा डाले। एक पात्र, दण्ड और भगवें वस्त्रोंके अतिरिक्त कुछ भी ग्रहण न करे। किन्तु यह सर्वदा स्मरण रक्खें कि पदार्थोंको छोड़ देने मात्रसे अथवा, कमण्डलु, दण्ड और काषाय वस्त्रोंको ग्रहण कर लेने से ही कोई सन्यासी नहीं बन जाता। गीतामें कहा है:—

न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।

अर्थात् केवल संसार अथवा कर्मोंका परित्याग कर देनेसे ही किसीको सिद्ध नहीं मिल जाती।

सन्यास ग्रहण करनेका अधिकार केवल ब्राह्मणको ही है। किन्तु ब्राह्मण पदसे उस मनुष्यका ग्रहण होना चाहिये जो वेदोंका पूर्ण ज्ञाता, सत्यनिष्ठ एवं सदाचारी हो।

मनुजीने मनुस्मृतिके छठवें अध्यायमें सन्यासीके वहुतसे कर्तव्य गिनाये हैं। जिनका सारांश यहां दिया जाता है:—सन्यासी जब मार्गमें चले तो इधर उधर दृष्टि न डाल करके केवल नीचेकी ओर देखे। सदा वस्त्रसे छान कर जल पिये और निरन्तर सत्य ही बोले। सर्वदा मनसे विचार कर सत्यकी ओर अग्रसर हो और असत्यका परित्याग करे। जब उपदेश अथवा शास्त्रीय विवादमें

कोई मनुष्य अज्ञानवश उस पर क्रोध करे अथवा उसे अनुचित कटु वचन कह दे तो वह शान्त हो जाय। क्रोधका उत्तर क्रोधसे न दे किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ ही उपदेश करे। अपनेको संयत रखे। परमेश्वरका ध्यान करे और मद्य, मांसादिका परित्याग कर अपनी ही सहायतासे सुखार्थी होकर विद्या एवं धर्मकी उन्नतिके लिये उपदेश करता हुआ विचरण करे। यदि कोई व्यक्ति उसे दूषित या भूषित करे तो उस पर ध्यान न दे और न दूषित तथा भूषित करने वालोंके प्रति कोई राग या द्वेष ही रखे। उसे इस बातका सदा स्मरण रखना चाहिये कि केवल चिह्न धारण करनेसे कोई सन्यासी नहीं बन सकता जैसे निर्मलीके फलसे गन्दा जल शुद्ध होता है, किन्तु केवल निर्मलीका नाम ले लेनेसे कुछ नहीं हो सकता। इसलिये सन्यासीको ओंकार सहित सप्तव्याहृतियोंसे विधिपूर्वक यथाशक्ति प्राणायाम करें। सन्ध्या और अग्निहोत्र उसके लिये आवश्यक नहीं है। जैसे अग्निमें तपानेसे धातुओंके समस्त दोष और मल दूर हो जाता है उसी प्रकार प्राणायाम करनेसे इन्द्रियोंके दोष मिट जाते हैं। इसलिये सन्यासीको उचित है कि नित्यप्रति प्राणायामोंसे आत्मा, अन्तःकरण और इन्द्रियोंके दोष, धारणाओंसे पाप, प्रत्याहारसे सङ्ग-दोष, ध्यानसे हर्ष-शोक और अविद्यादिको दूर कर समाधिके अद्भुत आनन्दका अनुभव करे। इसी ध्यान योगसे वह छोटे बड़े पदार्थोंमें परमात्माकी उस गति और व्याप्तिका दर्शन करे जो अयोगी और अविद्वानों द्वारा नहीं किया जा सकता। सब प्राणियोंसे अविरोध, इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग, वेदविहित कर्म और

कठोर तपश्चरण आदि पूर्वोक्त कार्योंके करनेसे सन्यासी इस संसारमें मोक्ष-पदका अधिकारी बन जाता है। मनुजीने इस प्रकार चारों आश्रमोंके कर्तव्योंका वर्णन करते हुए अन्तमें लिखा है:—

> एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।
> पुण्योऽक्षयफलः।

अर्थात् हे ऋषियो, यह चार प्रकारका ब्राह्मण-धर्म आप लोगोंको बतलाया। यह महान् पुण्य एवं अक्षय फलोंका दाता है।

आज देशको सन्यासियोंकी बड़ी आवश्यकता है। यों तो देशमें साधुओंकी इतनी बड़ी संख्या है कि वह समाजके लिये बोझ हो रही है तथापि सच्चे सन्यासियोंका एक प्रकारसे अभाव-सा है। सब आश्रमोंमें सन्यासका वड़ा स्थान है जो वर्णोंमें ब्राह्मणका और शरीरमें शिरका। क्योंकि बिना सन्यासाश्रम धर्म और विद्या की वृद्धि नहीं हो सकती। अन्य आश्रमोंके साथ विद्योपार्जन, लोक-साधन, गृह-कृत्य, तपश्चर्या आदि ऐसे अनेक कर्तव्योंका बन्धन है जिनसे इन सब आश्रमियोंको बहुत कम अवकाश मिलता है। अन्य आश्रमोंमें उन्मुक्त होकर जगत्का सर्वतोमुख उपकार करनेके अवसर भी नहीं हैं। सन्यासीको भ्रमणका भी अवकाश मिलता है। एकत्रवास उसके लिये निषिद्ध है। अतः उसको रागद्वेष भी नहीं हो सकता। हां, यदि एक स्थानमें रहनेसे ही कल्याणकी अधिक सम्भावना हो तो ऐसा भी किया जा सकता है। सन्यासीको पर्याप्त समय तक संसारके अनेक अनुभव कर लेनेसे विस्तृत ज्ञान

प्राप्त हो जाता है जिससे वह अपने उपदेशसे उन अनुभव-हीनोंके मार्ग की कितनी ही कठिनाइयोंको सरल कर सकता है। आयु क्षीण हो जाने एवं इन्द्रियोंको शिथिलता प्राप्त हो जानेसे उनमें लोभ, विषयवासनादि अन्य अवगुण अल्प-मात्रामें उदित हो सकते हैं। गृहस्थोंका पतन इनसे हो जाना बहुत सम्भव है। एकान्तमें रहने एवं शान्त-चित्त होनेसे सन्यासियों द्वारा ही उच्च साहित्यका निर्माण सम्भव है। इसी कारण इस आश्रमको इतना महत्व दिया गया है। आर्य जगत्में परमेश्वरके नीचे सन्यासियोंका ही स्थान माना जाता है।

बहुत विचारपूर्वक ऋषि-मुनियोंने आश्रम व्यवस्थाका निर्माण किया था। भारतकी जो अधोगति आज हम देख रहे हैं उसके मुख्य कारणोंमें आश्रम-व्यवस्थाका अनादर भी है। यदि आज भी मनुष्य उचित वेदोक्त विधिके अनुसार भिन्न-भिन्न आश्रमोंके कार्योंका पालन करते हुए जीवन व्यतीत करने लगें तो यह भारत-भूमि पूर्वकी भांति फिर सुख सम्पत्तिके प्रकाशसे जगमगा उठे।

चार वर्ण

वेदमें एक मन्त्र आया है:—

> ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
> उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳ शूद्रोऽजायत ॥

अर्थात् उस विराट् परमेश्वरके चार अंग हैं। ब्राह्मण मुख हैं। क्षत्रिय भुजा हैं। वैश्य उरु अर्थात् जंघा या धड़ है और शूद्र पैर हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शरीरके पुष्ट होने पर भी जबतक मुख या मस्तिष्क भाग पुष्ट नहीं होता तबतक शरीरकी पुष्टि व्यर्थ रहती है, और मुख द्वारा पोषक पदार्थ, प्राप्त होने पर ही शरीरकी पुष्टि भी होती है उसी प्रकार लोकमें ब्राह्मण वर्णके द्वारा ही उन तत्वोंकी प्राप्ति होती है जो पोषक है। इसका तात्पर्य प्रथक् २ वर्णोंके कर्तव्योंको पढ़नेसे स्पष्ट हो जायगा। जिस प्रकार बाहु द्वारा ही हम किसी वस्तुका ग्रहण कर सकते हैं, उसका उपभोग कर सकते हैं और उसको छीननेकी इच्छा रखनेवाले विरोधीसे बचा सकते हैं। उसी प्रकार क्षत्रिय वर्ण द्वारा ही समाजकी रक्षा हो सकती है। जैसे उदर ही अन्नादिकको पचाकर उसका रस सारे शरीरमें पहुंचा कर उसे जीवित रखता है वैसे ही वैश्य वर्ण अन्न-धनादिको उत्पन्न कर देश और समाजके प्राणियोंका भरण-पोषण करता है। रहे शूद्र, उनकी उपमा समीचीन ही है। बिना पैरों मनुष्य सर्वगुण-सम्पन्न होने पर भी एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जा नहीं सकता। वह अपाहिज माना जाता है। यह पैरोंकी ही शक्ति है

जिससे वह संसारका परिचय प्राप्त करने योग्य हो पाता है। उसी प्रकार हमारी गति भी शूद्रोंके द्वारा ही होती है।

कुछ लोग इस मंत्रका यह अर्थ करते हैं ब्राह्मण ईश्वरके मुखसे पैदा हुए, क्षत्रिय भुजाओंसे, वैश्य उरुसे और शूद्र पैरोंसे किन्तु यह कथन असंगत है। परमेश्वर निराकार है। वह साधारण मनुष्योंके समान मुख, बाहु आदि अंगों वाला नहीं है जो प्रत्येकसे मनुष्यों को पैदा कर सके। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है कि ब्राह्मण अन्य वर्णोंसे अधिक योग्य होनेके कारण मुख्य हैं। इसीलिये मुख्य शब्दकी व्युत्पत्तिको लेकर, मुखसे पैदा हुए, ऐसा कहा गया है। इसीलिये स्मृतियों में स्थान-स्थान पर लिखा है कि अपने वर्णके योग्य कर्म न करनेसे ब्राह्मणादि पतित होकर शूद्र हो जाते हैं और शूद्रादि उच्च कर्म करके ब्राह्मण बन जाते हैं। मनुजीका कथन है:—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥

अर्थात् यदि शूद्र कुलमें उत्पन्न होकर भी कोई पुरुष ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य वर्णके गुण, कर्म, स्वभाव वाला हो तो वह ब्राह्मण क्षत्रिय अथवा वैश्य हो जाता है। और यदि ब्राह्मणादिकुलमें उत्पन्न होकर शूद्रके समान आचरणवाला हो तो वह शूद्र ही माना जाता है। इस श्लोकसे मनुजी भविष्यके लिये ही व्यवस्था नहीं देते प्रत्युत वर्तमानकालमें भी इस नियमका प्रचलन स्वीकार करते हैं। आपस्तम्ब में तो और भी स्पष्ट कह दिया है कि यदि कोई व्यक्ति अपने वर्णके

अनुकूल आचरण करनेवाला न हो तो उसे इसी वर्णमें गिनना चाहिये जिसके आचरण उसमें हों। यही व्यवस्था स्त्रियोंके लिये भी है। इससे सब लोग अपना अपना कर्तव्य समझ कर अपने अपने वर्ण-धर्मका पालन करेंगे। आजकल एक अक्षर न जाननेवाले भी अपने नामके सम्मुख द्विवेदी, त्रिवेदी और चतुर्वेदी तक लिखते हैं और आश्चर्य यह है कि सामाजिक व्यवहारों, जैसे विवाहादिमें भी बहुतसे लोग अज्ञता वश उन्हें ऊँचा मान कर पूजते हैं। इसके विरुद्ध अनेक विद्वान् नीची मानी जाने जानेवाली जातियोमें जन्म पानेके कारण समय समय पर अप्रतिष्ठित और अपमानित होते हैं। यह सब अनुचित है। किसी व्यक्तिका आचरण देखकर ही उससे तदनुकूल व्यवहार करना चाहिये। नीचे अत्यन्त संक्षेपसे चारों वर्णोंके कर्तव्य दिये जाते हैं।

ब्राह्मणको मुखकी उपमा देनेसे इतना तो स्वयंहीस्पष्ट हो गया होगा कि उसका कर्तव्य बौद्धिक विकास रने वाली वस्तुओंसे सम्बन्ध रखता है। क्योंकि समाजका सञ्चालन एवं नियन्त्रण बिना पूर्ण बौद्धिक-विकासके सम्भव नहीं। अतएव मनुजीने ब्राह्मणके ६ कर्तव्य निश्चित किये हैं:—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

वेदादिक समस्त विद्याओंका पढ़ना पढ़ाना; यज्ञ करना, कराना; दान देना, दान लेना ये ६ कर्म ब्राह्मणोंके लिये निश्चित किये गये

हैं। इनमें भी दान लेना निकृष्ट माना गया है और प्रतिग्रही ब्राह्मण निम्न कोटिके माने गये हैं। आजकल तो प्रायः ब्राह्मणोंने लेना मुख्य तथा अन्य कर्तव्य गौण समझ लिये हैं। प्राचीन कालमें विवशता-वश आवश्यकतानुसार ही कभी कोई दान ग्रहण करता था। मनुजीने दानोंका वर्णन करते हुये कुछ दानोंको तो अत्यन्त निकृष्ट बतलाया है। कुछ वृत्तियां जैसे पौरोहित्य तथा मठ-पूजन द्वारा निर्वाह करना तो अत्यन्त नीच माना जाता था। किसी कविका कथन है:—

नरकाय मतिस्ते चेत् पौरोहित्यं समाचर।
वर्षं यावत् किमन्येन मठचिन्तां दिनत्रयम्॥

"यदि घोर कष्ट भोगनेकी इच्छा हो तो एक वर्ष पुरोहिताई करो। अधिक क्या, यदि शीघ्र ही नरक भोगना चाहो तो ३ दिनके लिये किसी मन्दिरके पुजारी वन जाओ" यद्यपि यह श्लोक इन कार्योंके करने वालोंके दुराचरणको देख कर ही लिखा गया है तथापि इसमें बहुत कुछ सत्य विद्यमान है; क्योंकि प्रथम में वेद-विद्या बेच कर और दूसरेमें परमेश्वरका नाम लेकर अनाचार किया जाता है। वास्तवमें ब्राह्मण समाजके नेता हैं, अतः उनका ज्ञान, तप, विचार सभी कुछ महान् होना चाहिये। उनका चरित्र साधारण जनताके लिये आदर्श है। शास्त्राभ्यास और समाजके कल्याणमें तत्पर रहना उनका कर्तव्य है और उनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति राज्य एवं प्रजाका कार्य है। ब्राह्मणोंको आवश्यकतायें भी अल्पतम

होनी चाहिये। जितना आनन्द आकर्षक वस्तुओंके त्यागमें है उतना उनके उपभोगमें नहीं। जो भौतिक पदार्थोंको नीची दृष्टिसे देखता है उसके पीछे वे दौड़े आते हैं। ब्राह्मणोंको सन्तोष-पूर्वक बौद्धिक व आत्मिक शक्ति का उपार्जन करना चाहिये। लौकिक विभूतियां तो उनके सम्मुख हाथ जोड़े खड़ी रहेंगी। उन्हें उस वस्तुकी प्राप्ति में अग्रसर होना चाहिये जिस पर सभी ऋद्धि-सिद्धियां निछावर होती हैं, जिसकी प्राप्तिके पश्चात् कुछ प्राप्त होना शेष नहीं रहता और जिसके जान लेने पर सभी कुछ ज्ञात हो जाता है। प्राचीन कालके ब्राह्मण ऐसे ही होते थे। वे किसीसे एक पैसा माँगते न थे किन्तु उनके इशारे पर राज्य निछावर होनेके लिये तैयार रहते थे। आज हमने भिक्षा मांगना सीखा, तब भिक्षा भी हमें दीन होनेके कारण नहीं मिलती। यह हमारी निर्बलता है। संयम और त्यागमें वह शक्ति है जो लक्ष्मीको दासी बना लेता है। इसी लिये तो गीतामें व्यास-जीने कहा है:—

शमो दमस्तपः शौचं शान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

अर्थात् मनसे बुरे कामकी इच्छा न करना और उसको अनुचित कार्योंमें प्रवृत्त न होने देना; श्रोत्र नेत्रादि इन्द्रियोंको अधर्माचरणसे रोक कर उनको धर्ममें लगाना; सदा ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय हो कर धर्मानुष्ठान करना; मन, वाणी तथा कर्मसे पवित्र रहना; निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा, हानि-लाभ, मानापमान, हर्ष-शोकादिका परित्याग कर धर्ममें दृढ़ निश्चय रखना; कोमलता,

निरभिमानता, सरलता रखना और कुटिलतादि दोष छोड़ देना; अर्थात् जो जैसी वस्तु हो उसको वैसा ही यथार्थ रूपमें समझना, पृथ्वीसे लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थोंको सूक्ष्म एवं गम्भीर रीतिसे ज्ञान कर उनका यथायोग्य उपयोग करना; वेद, ईश्वर, भक्ति, पूर्व-पर-जन्म, धर्म, विद्या, सत्संग, माता, पिता, आचार्य और अतिथियों की सेवा-शुश्रूषाको न छोड़ना, ये ब्राह्मण वर्णस्थ मनुष्योंके स्वाभाविक कर्म हैं।

प्राचीन कालमें ब्राह्मणोंकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। वे सभी वर्णोंके पूज्य माने जाते थे। किन्तु इसका कारण उनका विस्तृत ज्ञान, संयम और त्याग था। पीछे लोगोंने प्रतिष्ठाके कारणों पर ध्यान न दे कर केवल मिथ्याभिमान ग्रहण कर लिया। अन्य लोग चाहे उच्च समझें या नीच समझें किन्तु वे स्वयं ही अपने को उच्च मानने लगे। पूर्ण-वेदज्ञ और विद्वान् ही दानका अधिकारी होता है। इस बातको भूल कर उन्होंने केवल दान लेने तक ही अपने कर्तव्यकी इति-श्री समझ ली। पूर्वजोंका पुण्य कब तक घर बैठे रोटियां दे सकता था। विद्याका परित्याग कर देने और मिथ्या दम्भके कारण अन्य व्यवसाय ग्रहण न करनेसे आर्थिक अवस्था और आत्मिक-सिद्धि दोनोंका ही पतन हुआ। फलस्वरूप वे अधिक तर धनी-मानियोंके आश्रित बन गये और उन्हींके इशारे पर उनकी रुचिकी तृप्तिके लिये औचित्यानौचित्यका बिना विचार किये कर्म करने लगे। ये ही कारण है जिनसे हमें स्थान २ पर ब्राह्मणोंकी निन्दा सुननेको मिलती है। किन्तु वस्तुतः यह उन्हींका दोष है जिसका उन्हें आज प्रायश्चित्त करना पड़ रहा है।

क्षत्रिय

क्षत्रिय अर्थात् राजन्य वर्ण वह है जिन पर समाजकी रक्षाका भार रहता है। शान्त, अध्ययन शील, तपस्वी एवं परोपकारियोंको दुष्टोंके उपद्रवोंसे बचाना, सबलोंके अत्याचारोंसे निर्बलोंकी रक्षा करना, विदेशोंके आक्रमणोंसे देशको सुरक्षित रखना, शान्ति एवं व्यवस्थाका भंग न होने देना इत्यादि कार्योंके सुचारु सम्पादनके लिये इस वर्णकी सृष्टि हुयी थी। क्षत्रिय शब्द का अर्थ ही है पीड़ासे बचाने वाला। मनुजीने इस प्रकारके कर्मोंका निर्देश करते हुये लिखा है:—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥

अर्थात् प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, हवन करना, वेदादि शास्त्रोंका यथावत् अध्ययन करना, विषयोंसे बचे रहना, ये संक्षेप में क्षत्रियोंके कर्तव्य हैं। गीतामें भी कहा है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥

अर्थात् अकेले भी सहस्त्रों पुरुषोंसे युद्ध करनेमें संकोच या भय न होना, आत्माभिमान-युक्त, दैन्य-रहित और प्रभावशाली होना, विपत्ति कालमें भी हताश न होना, व्यवहार, क्रिया और प्रबन्धादिमें चतुर होना, युद्धमें पीठ न दिखाना, दान-शीलता, और बड़प्पनके योग्य अन्य गुणोंसे सज्जित होना, ये क्षत्रियके स्वाभाविक

कर्म हैं। श्रीमद्भागवद्गीताके ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंके कर्मोंका निर्देश करने वाले श्लोकोंमें 'स्वभावजम्' शब्द आया है। इससे प्रकट होता है कि वंश-परम्परा शुद्ध होनेके कारण उन्हें उक्त गुणोंके प्राप्त करनेके लिये विशेष उद्योग नहीं करना पड़ता था। ये गुण तो उन्हें मानों पैतृक सम्पत्तिके रूपमें मिल जाते थे। प्राचीन कालके इतिहास का अध्ययन करनेसे पता चलता है कि क्षत्रिय पुरुष ही इस प्रकारके वीर नहीं होते थे, उनकी स्त्रियां भी सभी उपर्युक्त गुणोंसे भूषित होती थीं। आज भी भारतीय वीराङ्गनाओंका इतिहास संसारकी सभी जातियोंके महिला-इतिहासमें अद्वितीय माना जाता है। शिवाजी और प्रतापके जन्मको तो अभी कुछ दिन भी व्यतीत न हुये। आज भी प्रत्येक बालकके लिये उनका नाम स्फूर्तिदायक है। खेद है, जिस देशके अबोध बालकोंने केवल धर्मकी रक्षाके लिये अपने शरीर दीवारोंमें चुनवा दिये, टुकड़े २ कर कटवा दिये, आज उसी देशके बालक रोटी और कपड़ोंके लिये द्वार-द्वार पर गिड़गिड़ाते हैं। यह क्षत्रिय जातिकी निष्कर्मण्यताका अभिशाप है। आज मातृ-भूमिको क्षत्रियों की आवश्यकता है। होनहार नवयुवकोंको उसकी पुकार सहानुभूतिसे सुननी चाहिये।

वैश्य

जिस प्रकार आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम की आवश्यकता है उसी प्रकार वर्णोंमें वैश्य की। मनुजीने लिखा है कि जिस प्रकार सब प्राणी वायुका सेवन करके ही जीवित रहते हैं उसी प्रकार सब

आश्रम गृहस्थाश्रम का आश्रय पा कर निर्विघ्न अपना कार्य-सम्पादन करते हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि दान और अन्नसे सब आश्रमोंका पालन करने वाला होनेसे गृहस्थाश्रम ही बड़ा है। इसी बातको वर्णों पर विचार करते समय हम पूर्णतया वैश्य वर्ण पर संघटित कर सकते हैं। यह वैश्य वर्ग ही है, जिसके धनसे अन्य वर्ण अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हैं और बदलेमें उसे कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान कराते, विघ्नों विपत्तियोंसे बचाते और अन्य आवश्यक सेवा करते हैं। वैश्यकी श्रेष्ठता इसी में है कि वह सदाचार और न्यायके साथ अधिकसे अधिक उत्पत्ति कर उसे देश व समाजके हित में लगा सके। वैश्योंके कर्मोंका निर्देश करते हुये मनुजीने लिखा है:—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

अर्थात् पशुओंका पालन व वृद्धि करना, दान देना, हवन करना, वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन करना, सब प्रकारके व्यापार करना, उचित सूद लेकर लेन देनका व्यवहार करना, कृषि करना, ये वैश्यके कर्तव्य हैं। पशु-पालन, व्यापार और कृषिसे यह न समझ लेना चाहिये कि यहीं उसके कर्तव्य का अन्त है। इसका तात्पर्य सभी प्रकारके उन उत्पादक व्यवसायोंसे है जो न्याय-युक्त हैं। प्राचीन कालमें भारतका व्यापार बहुत बढ़ा चढ़ा था। सभी प्रकारका कच्चा पक्का माल विदेशोंको जाता था। यहांकी जल-शक्ति भी पुष्ट थी। विदेशोंके इतिहासकारोंके अन्वेषणसे पता चलता है कि हजारों

वर्ष पहले वहां भारतके वस्त्र व्यवहारमें लाये जाते थे। किन्तु पीछे तो लोगोंने विदेश-यात्राको एक पाप कर्म मान लिया। फलस्वरूप भारत विदेशोंका दास बन गया। इस समय तो व्यापारका युग है जिस देशका व्यापार जितना बढ़ा चढ़ा है वह उतना ही उच्च माना जाता है। किन्तु दुर्भाग्यसे भारतमें अब तक व्यवसायकी शिक्षाके उत्तम साधन नहीं हैं। यहांकी शिक्षामें दूसरोंका दास बनानेकी शक्ति है किन्तु अपने पैर परों खड़ा कर देनेकी नहीं। जो साधन प्रस्तुत भी हैं उनका अच्छा उपयोग करनेका भारतीय छात्र उद्योग नहीं करते। 'व्यापारे वसति लक्ष्मीः।' को दृष्टिमें रख कर भारतीय छात्रों को इस विषयकी ओर ध्यान देना चाहिये।

शूद्र

वर्ण-व्यवस्थाके शुद्ध रूप पर विचार करनेसे विदित होता है कि प्रारम्भकालमें शूद्र संज्ञा उन्हें दी गयी जिनमें न तो बुद्धिकी तीक्ष्णता थी और न शारीरिक शक्तिका ही आधिक्य। द्रव्योपार्जन, व्यवसायादिकके लिये जिन गुणोंकी आवश्यकता होती है वे भी उनमें न थे। तीन वर्णोंके विभाजन हो जाने पर किसी एक ऐसे वर्णकी आवश्यकताका अनुभव सुतरां किया गया जो अन्य वर्णोंकी आवश्यक सेवा कर सके। समाजमें सेवकोंकी नियुक्ति कैसे होती है? जब समाजका उपकार करनेवाले व्यक्तियों पर समयका अभाव होता है जिससे वे अपने सब कार्य नहीं कर सकते, तब वे ऐसे कार्य स्वयं कर लेते हैं जो उन्हींके द्वारा किये जा सकते हैं। और ऐसे कार्य जिन्हें कम योग्यताका अशिक्षित पुरुष भी कर सकता है किसी

ऐसे ही पुरुषसे उसके समयका मूल्य आंक तदनुरूप द्रव्य या अन्य आवश्यक सुविधायें देकर जिन्हें वह स्वयं नहीं प्राप्त कर सकता, कराया लेते हैं। समाजको इनकी आवश्यकता थी ही। यदि अन्य व्यक्ति न मिलते तो उन्हींमेंसे कुछको यह कार्य करना पड़ता। किन्तु दुर्भाग्य या सौभाग्यसे कुछ अशिक्षित भाई भी मिल गये और उन्हें अन्य वर्णोंकी सेवा करनेका काम दे दिया गया। उस समय समाजमें उनका वही स्थान था जो घरमें किसी कम पढ़े लिखे व्यक्तिका होता है। थोड़े दिनों तक शूद्रका पुत्र भी शूद्र ही हो, ऐसी प्रथा नहीं थी। यदि किसी शूद्रका पुत्र योग्य विद्वान् हो गया तो उसे वे ही अधिकार मिलते थे जो अन्य शिक्षित विद्वानोंको। किन्तु अन्य वर्णोंकी मास्तिष्किक पैतृक सम्पत्ति उच्च होनेसे तथा अन्य व्यवसाय करनेसे उन्हें शिक्षा-दीक्षाके विशेष साधन प्राप्त होने लगे। इनसे उनकी सन्तान तो प्रायः योग्य निकलने लगी और शूद्रोंकी सन्तान उच्च व्यक्तियोंकी सङ्गति आदि साधन न पानेसे अयोग्य होने लगी। तब लोगोंने यह समझ लिया कि शूद्रोंकी सन्तान योग्य नहीं हो सकती। 'उनके पुत्र-पौत्रादि सभीके लिये सेवा करनेका ही विधान है।' ऐसा जाल रचकर उन्हें सर्वदाके लिए अपना दास बना लिया। शूद्रोंकी आर्थिक अवस्था तो अच्छी थी नहीं, वे करते भी क्या? उनकी विद्याहीनता धीरे-धीरे संस्कारका रूप पकड़ गयी। उनके लिये जिस उद्देश्यसे मनुजीने लिखा था कि :—

> एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
> सर्वेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

अर्थात् शूद्रका कार्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमानादिका परित्याग कर अन्य वर्णोंकी सेवा करे। वह उद्देश्य पीछे आकर अन्य सब वर्णोंके कर्तव्योंकी भाँति भुला दिया गया। मनुजीका तात्पर्य था कि इस प्रकार शिक्षित और सभ्य लोगोंके साथ रहनेसे उनके संस्कार शुद्ध हो जायँगे और वे भी अपनेको उच्च बना सकेंगे। साथ ही यह भी विचार नहीं किया गया था कि कोई वर्ण उच्च और कोई वर्ण नीच माना जायगा। समाजको सबकी सेवाकी आवश्यकता थी और जिससे जितनी, जिस प्रकारकी सेवा अधिक प्राप्त की जा सकती थी, प्राप्त करनेकी चेष्टा की गयी। जो व्यक्ति अपने मस्तिष्कसे ही अधिक उपकार कर सकते थे उन्हें मास्तिष्किक विकास के साधन दिये गये। जो शौर्य, शक्ति एवं पराक्रमसे अधिक कार्य करते थे उनके उन गुणोंका उपयोग किया गया। जन्मके अनुसार अपना निश्चित वर्ण मान कर अकर्मण्यतासे ऊँघते हुये दूसरोंको नीच समझनेका भाव बहुत पीछे आया। जब पैरोंको शूद्र मान लिया तो वे नीच कैसे माने जा सकते हैं। अधिकसे अधिक पूज्यके पैर छूनेकी ही प्रथा है। चरण ही धोये जाते हैं। बिना पैरोंका पुरुष निकम्मा और परिवारमें भार माना जाता है, अतः मध्यकालीन गन्दे विचारोंका परित्याग कर शूद्रोंको भी शिक्षित और सुरक्षित बनाना चाहिये। मनुष्यताकी दृष्टिसे प्राप्त अधिकारोंका उपभोग करनेका अवसर उन्हें भी मिलना चाहिये।

आज तो वर्ण व्यवस्थाका प्रायः लोप सा हो चला है। वर्णोंके भीतर उपवर्ण, जातियाँ और उपजातियाँ बन गयी हैं। यदि एक

जातिके उपभेदों पर दृष्टि डालें तो उसके सहस्रों भेद मिलेंगे। इससे समाज बहुत विश्रृङ्खल हो गया है। अनेक व्यवसाय करनेवाली जातियोंका शूद्रोंमें परिगणन होता है। जो जातियाँ मूल्य लेकर आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करती हैं, वे वैश्य हैं, किन्तु उनमेंसे अधिकांश नीच माने जाने लगी हैं। यों तो पृथ्वी पर उत्पन्न परमपिताकी सन्तानमें कोई भी नीच नहीं है। उनके दुष्कर्म ही नीच हैं जिनसे घृणा करना चाहिये। व्यक्तियोंको नीच समझना महापाप है।

आर्य जगतमें बिखरी अनेक जातियां वेद-विरुद्ध हैं। उन्हें प्रथक् नाम न देकर वर्णोंके हिसाबसे ही उनकी गणना होनी चाहिये। ऐसा होनेसे समाज सभी दृष्टियोंसे आगे बढ़ सकेगा। समाजको चारों प्रकारकी आवश्यक शक्तियाँ प्राप्त होती रहेंगी। तभी भारतवर्ष विद्या, बुद्धि, बल, धन-धान्य और त्यागसे धनी हो सकेगा। सच्चे सेवा धर्मको समझने वाले शूद्रोंकी आवश्यकता प्रत्येक देश और समाजमें सदा रही है और रहेगी। उनकी चिरसेवाके लिये उनपर हम गर्व कर सकते हैं। क्योंकि:—

सेवा-धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

संस्कार

संस्कारका अर्थ है शुद्धि। किसी अव्यस्थित या अशुद्ध वस्तु को जब हम विभिन्न साधनों द्वारा व्यवस्थित, शुद्ध एवं ग्राह्य बनाते हैं तो उसे संस्कृत करते हैं। किसी साधारण वस्तु पर किसी क्रिया या कुछ क्रियाओंका ऐसा प्रभाव पड़ता है जिससे वह और भी उत्तम व सुन्दर बन जाती है इसी क्रिया अथवा उन क्रियाओंको संस्कार कहते हैं। मनुष्य जीवनको भी सुन्दर एवं उत्तम बनानेकी कुछ क्रियायें हैं, जो बालकके गर्भमें आनेसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त समय समय पर होती हैं। इन क्रियाओंके करनेसे मनुष्यका शरीर, मन और आत्मा पुष्ट, शुद्ध एवं उच्च होता है। आर्य जातिमें ऐसी क्रियायें १६ मानी गयी हैं।

१ गर्भाधान—इसे निपेक भी कहते हैं। पुत्रेष्टिसे भी इसीका ग्रहण होता है। इसमें माता पिता दोनों गर्भाधानके पूर्व पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण करते हैं। और ऋतु दानके कुछ काल पूर्वसे ऐसी औषधियों का सेवन करते हैं जिनसे रज-वीर्य पुष्ट और शुद्ध होता है। तत्पश्चात् उत्तम तिथिमें शास्त्रोक्त विधिसे वैदिक मंत्रों द्वारा हवन करते हैं और यथाविधि शुद्ध, पवित्र चित्तसे लोक धर्म पालनके लिये कर्तव्य समझ कर गर्भाधान करते हैं।

२ पुंसवन—यह संस्कार गर्भ धारणके बाद तीसरे महीने होता है। यह संस्कार गर्भ-स्थितिको ठीक रखनेके लिये किया

जाता है। इस संस्कार द्वारा माता पिता यह व्यक्त करते हैं कि वे गर्भाधान कालसे ब्रह्मचारी हैं; और साथ ही प्रतिज्ञा करते हैं कि जब तक पुनः गर्भाधानकी आवश्यकता न पड़ेगी तब तक ब्रह्मचारी रहेंगे। इसमें भी परमेश्वर का ध्यान कर वेदोक्त मन्त्रोंसे हवन करनेका विधान है।

३ सीमन्तोन्नयन—यह संस्कार गर्भाधानसे चौथे, छठे अथवा आठवें मासमें करना चाहिये। यह संस्कार इसलिये किया जाता है जिससे गर्भिणी स्त्रीका मन सन्तुष्ट व आरोग्य; गर्भ स्थिर, पुष्ट एवं उत्कृष्ट हो और प्रति-दिन बढ़ता जाय।

४ जातकर्म—यह बालकके उत्पन्न होनेपर नाल-छेदनसे पहले किया जाता है। इसमें भी यज्ञादि धार्मिक कृत्य किये जाते हैं और बालककी जिह्वा पर सोनेकी सलाईसे 'वेद' लिखा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि तू ज्ञानी बन। तेरी बुद्धि शुद्ध एवं विकसित हो।

५ नामकरण—यह संस्कार बालकके उत्पन्न होनेसे ग्यारहवें दिन किया जाता है। कहीं कहीं १०१ वें दिन अथवा दूसरे वर्षके प्रारम्भ में भी नामकरणका विधान है। इस संस्कारमें बालकका नाम रक्खा जाता है। पहले नाम रखनेके नियम निश्चित थे। महाभाष्यके रचयिता महर्षि पतञ्जलिने इस विषयमें संकेत किया है। अन्य सूत्र-ग्रन्थोंमें भी इसपर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। संक्षेपतः नाम सरल, एवं सुबोध हो, बहुत लम्बा न हो तथा वर्णानुकूल गुणोंका प्रदर्शित करनेवाला हो। स्त्रियोंका नाम मधुर, असंयुक्ताक्षर हो।

नदी, पर्वत आदिका स्मारक न हो। साथ ही यह भी प्रयत्न रहे कि वालक भविष्यमें गुणों द्वारा अपने नामका परिचय दे सके।

६ **निष्क्रमण**—यह संस्कार वालकके जन्मसे चौथे महीने किया जाता है। इस संस्कारके पश्चात् ही वालकको धर्म-कृत्योंके साथ घरसे निकालना प्रारम्भ किया जाता है।

७ **अन्नप्राशन**—यह जन्मसे छठे मासमें किया जाता है। इस संस्कारमें वालकको मधु और क्षीर इत्यादि दिया जाता है। इसके बाद वह अन्न ग्रहणका अधिकारी होता है।

८ **चूड़ा कर्म**—इसे मुण्डन भी कहते हैं। इसमें वालकके गर्भावस्थाके वाल मूंड दिये जाते हैं। यह जन्मसे तीसरे वर्ष होता है।

९ **यज्ञोपवीत**—इसे उपनयन भी कहते हैं। यह संस्कार ब्राह्मणका आठवें वर्ष, क्षत्रियका ११ वें, और वैश्यका १२ वें वर्षमें होता है। यदि बालक अधिकारी हो तो इससे पहले भी किया जा सकता है। इस संस्कारके द्वारा वालक ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर वेदाध्ययनका अधिकारी होता है। यज्ञके सम्मुख यज्ञोपवीत धारण कर वह प्रतिज्ञा करता है कि मैं तीनों ऋण अर्थात् मातृ-ऋण, पितृ-ऋण, और आचार्य-ऋण चुकाऊंगा, तीनों वेदोंका अध्ययन करूंगा। यहींसे जीवनकी सुवोधावस्थाका प्रारम्भ होता है।

१० **वेदारम्भ**—यह संस्कार तब होता है जब उपनीत वालक गुरुकुलमें जाकर वेदाध्ययनका आरम्भ करता है। इसके पश्चात् वह व्रत-पालनमें तत्पर हो जाता है।

११ समावर्तन—वेदाध्ययन समाप्त होनेपर जब, ब्रह्मचारीको स्नान करा घरको ले जाते हैं, उस समय यह धार्मिक कृत्य किया जाता है। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी गृह-प्रवेशका अधिकारी होता है।

१२ विवाह—सन्तानोत्पत्ति एवं लोक धर्म पालनके उद्देश्य से ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचारिणी अपने सदृश पत्नी और पतिका वरण करते हैं। उस समय अग्निको साक्षी कर दोनों जो एक दूसरेका पाणि-ग्रहण करते हैं उसे विवाह संस्कार कहते हैं।

१३ गार्हस्पत्य—जब मनुष्य गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके अपने घरमें धार्मिक विधिसे अग्निकी स्थापना करता है उस समय किये गये संस्कारको गार्हस्पत्य संस्कार कहते हैं। इस संस्कारके पश्चात् ही पति-पत्नी पञ्चमहायज्ञका आरम्भ कर देते हैं।

१४ वानप्रस्थ—सन्तानोत्पत्ति, उसका पालन, एवं शिक्षादि कार्य समाप्त कर आयुके तीसरे भागमें धर्म एवं मोक्षकी साधनाके लिये जो घरका त्याग किया जाता है उसे वानप्रस्थ और उस समय किये गये धार्मिक कृत्यको वानप्रस्थ संस्कार कहते हैं।

१५ संन्यास—आयुके अन्तिम भागमें जब मनुष्य ईश्वरका चिन्तन करते हुए मोक्षकी साधनामें लगना चाहता है और सब प्राणियोंपर समदृष्टि रख कर जनहितको अपना एक मात्र उद्देश बना लेता है उस समय वानप्रस्थाश्रमका परित्याग कर धार्मिक कृत्यके साथ संन्यास ग्रहण करता है। उसी धार्मिक कृत्यको सन्यास संस्कार कहते हैं।

१६ अन्त्येष्टि—यह अन्तिम संस्कार जीवनके अन्तमें होता है। मनुष्यका प्राणान्त हो जाने पर उसका शव एक कुण्डमें रख कर उसे घृत, सामग्री तथा चन्दनादि सुगन्धित द्रव्योंके साथ जलानेकी क्रियाको अन्त्येष्टि संस्कार कहते हैं। इसमें भी वेद-मन्त्रों का प्रयोग होता है। यद्यपि मनुष्यकी मृत्युके पश्चात् उसके रोगके कीटाणुओंको दूर करने तथा गृह शुद्धिके हेतु भी हवनादि किया जाता है तथापि उसका सम्बन्ध मृत व्यक्तिसे न होनेके कारण वह मृत व्यक्तिका संस्कार नहीं माना जाता। वह तो गृहका संस्कार है।

ये संस्कार अप्रत्यक्ष रूपसे तो मनुष्यके अन्तःकरण और फलतः जीवन पर प्रकाश डालते ही हैं साथ ही समय-समय पर, आगत जीवनके कर्तव्योंका स्मरण भी कराते हैं। ये मनुष्यको नवीन कर्तव्य सुझानेके मुख्य हेतु है। उदाहरणार्थ उपनयन संस्कारको ही लीजिये। ७, ८ वर्षकी आयु तक खेल कूदमें लगे हुये बालकको यह संस्कार सहसा सावधान कर देता है और सैनिक-शासन सा करता हुआ दूसरे दिनसे उसे वेदाध्ययनके लिये विवश कर देता है। यही अवस्था अन्य संस्कारोंकी है। आज इन संस्कारोंका प्रायः लोप-सा हो जानेसे न बालकोंकी शिक्षाका ही समयसे प्रारम्भ होता है और न गृहस्थ ही मरते दम तक घरका मोह छोड़ पाते हैं।

संस्कारके विषयमें एक यह भी ध्यान देने योग्य है कि जितने संस्कार बाल्यावस्थामें रखे गये हैं उतने आगे चल कर नहीं। बाल्यावस्थामें दो-दो महीने बाद तक संस्कारोंका विधान किया गया

हैं किन्तु वेदारम्भके पश्चात् ऐसा नहीं है। यदि कोई कहे कि फिर ऐसा कोई परिवर्तन ही नहीं होता, तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है, कि यदि सीमन्तोन्नयादि संस्कारोंकी कल्पना की जा सकती है तो एक वेद या एक शास्त्रकी समाप्ति पर भी कोई न कोई संस्कार कल्पित किया जा सकता है। बात यह है कि गर्भमें और गर्भके बाहर ज्यों २ बालक बढ़ता है, त्यों-त्यों उसके संस्कार-कालका अन्तर भी बढ़ता जाता है। इसका कारण यह है कि बाल्यावस्थामें बालकके हृदय पर जो संस्कार जम जाता है वह अमिट हो जाता है। उस अवस्था में जैसा वायुमण्डल बालकके चारों ओर रहता है वैसी ही उसकी प्रकृति बन जाती है। अतएव आठ वर्ष तक-जो कि उसके सीखनेका सर्वोत्तम काल है। और जिन लोगोंने मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे बाल-प्रकृतिका अध्ययन किया है वे इसे खूब समझते भी हैं। उस समय प्रायः वेद मन्त्रोंका पाठ, उनका महत्व, यज्ञ-हवन, बड़े-बड़े विद्वानोंका संग बालकके जीवन पर अपनी अमिट छाप लगा देता है। इस अवस्थामें बालकके धार्मिक विचार इतने पुष्ट हो जाते हैं कि वे उसे जीवन भर सन्मार्ग पर ले चलनेमें समर्थ होते हैं। इस लिये बाल्यकालके संस्कारों पर बहुत ध्यान देना चाहिये।

आज कल वेदादि शास्त्रोंके पठन-पाठनका प्रबन्ध न होनेसे जनता उनके तत्वसे सर्वथा अनभिज्ञ सी रहती है। यही कारण है कि महत्व न समझनेसे इनमें बहुत-से संस्कार भुला दिये गये हैं और उनके स्थान पर मनमानी प्रथायें बना ली गयी हैं। संस्कार-विधियां भी प्रायः ऊटपटांग और अव्यस्थित बना ली गयी हैं जिन

का उद्देश्य प्राय: पैसा लेना ही प्रतीत होता है। सौभाग्यसे स्वामी दयानन्द सरस्वतीने अनावश्यक बातोंको काट-छांट कर शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिसे केवल वेद मन्त्रोंके आश्रित संस्कार-विधिका निर्माण कर दिया है। धार्मिक पुरुषोंको उसके अनुकूल यथासमय सभी संस्कार करने चाहिये जिससे सन्तान पूर्वकी भांति विद्वान बलिष्ठ तथा सदाचारी बन सके।

दिन-चर्या

मनुष्यका जीवन-चरित्र क्या है ? उसके दैनिक कृत्योंका सक्रम संकलन मात्र। बड़े-बड़े महापुरुषोंकी जीवनी जिसपर हम श्रद्धा करते एवं अनुरागसे मस्तक झुकाते हैं उनकी दिनचर्याके विस्तृत संग्रहके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यों तो जीवनका निर्माण ही दिनचर्यासे होता है किन्तु वह उसके उस रूपका अधिकांशमें कारण भी होती है। किसी महापुरुषका जीवन प्रारम्भसे ही उतना विशुद्ध एवं अनुकरणीय नहीं होता। जिस कालसे कोई पुरुष उन्नतिकी ओर अग्रसर होता है उस समयकी उसकी कार्य-शैली पर दृष्टि डालनेसे उसमें एक नियमितता दिखायी देगी। उसका जीवन एक विशेष प्रकारसे बद्ध-सा प्रकट होगा और वह बन्धन, किसी अन्यका नहीं, स्वयं उसीका बनाया हुआ होगा। और वह होगी उसकी निश्चित दैनिक चर्या।

दिनचर्याके कुछ नियम बना कर उसके अनुसार आचरण करनेसे अन्तःकरणमें एक प्रकारके सन्तोषका अनुभव होता है, साथ ही बहुत सी आवश्यक बातें, जो अनियमित जीवनमें उपेक्षित हो जाती हैं, पूर्ण हो सकती है। विश्रृङ्खल रूपसे कार्य करने पर मनुष्यको स्मरण ही नहीं रहता कि उसे क्या करना है, और इस प्रकार, उसकी बहुतसी शक्तियां अस्फुट ही रह जाती हैं। इतनाही नहीं, उसमें किसी

कार्यको करनेकी शक्ति न होने वह बहुतसे कार्योंमें असफल होता है। स्वास्थ्य गिर जाता है और मानसिक शान्ति मिट जाती है। प्रायः देखा जाता है कि बालक लड़कपनसे दिनचर्याके अनुसार कार्य करनेकी आदत नहीं डालते। इस कारण उनके जीवनमें अनुशासनका प्रायः अभाव पाया जाता है। जीवनकी सब आदतें बाल्यकालसे ही बनती हैं अतः प्रारम्भिक अवस्थासे नियम-पूर्वक कार्य करनेकी आदत डालनी चाहिये।

दिनचर्याका सर्व-प्रथम कार्य प्रातःकाल जागरणका है। प्रत्येक स्त्री पुरुषको ब्राह्ममूहूर्तमें अर्थात् प्रातः ४ बजेसे लेकर ५ बजे तक अवश्य उठ जाना चाहिये। और उठते ही परमेश्वरका ध्यान कर यह प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि मैं मन, वाणी तथा कर्मसे कोई अनुचित कार्य न करूंगा। मनुजी महाराजने लिखा है :—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥

अर्थात् ब्राह्ममुहूर्तमें उठ कर धर्म और अर्थका चिन्तन करे। शरीरमें यदि कोई कष्ट हो तो उसके कारण पर विचार करे और परमेश्वरका ध्यान करे। ब्राह्महूर्तको अमृत-वेला भी कहते हैं। लोग कहा करते हैं कि अमृत-वेलाका साधन करने वाला अपनी पूरी आयु भोग कर सत्कार्योंके द्वारा अमर हो जाता है। योगी लोग इसी समय ध्यान किया करते हैं। ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेसे बुद्धिकी वृद्धि होती है। इन्द्रियोंमें स्फूर्ति रहती है। उस समय किया हुआ काम सफल होता है।

किन्तु जो पुरुष निकम्मोंकी भांति सूर्योदय होने तक सोते रहते हैं उनकी बुद्धि मन्द पड़ जाती है, शरीर शिथिल-सा हो जाता है, लक्ष्मी तो उनके पास तक नहीं फटकती। किसी कविकी कैसी सुन्दर उक्ति है:—

> कुचैलिनं दन्तमलावधारणं,
> बह्वाशिनं नित्य-कठोरभाषिणम्।
> सूर्योदये चास्तमये च शायिनम्,
> विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्॥

अर्थात् जो मनुष्य गन्दे कपड़े पहनता है, दन्तादिको स्वच्छ नहीं रखता, भूखसे अधिक खा जाता है, कठोर भाषण करता है, सूर्योदय और सूर्यास्त अर्थात् दोनों सन्ध्याकालोंमें सोता है, ऐसा मनुष्य, चाहे जितना भाग्यवान् क्यों न हो, लक्ष्मी-हीन हो जाता है। यह कुछ स्वाभाविक-सी बात है कि उषाकालमें प्रगाढ़-निद्रामें मग्न मनुष्यकी भी आंख कुछ क्षणोंके लिये खुल जाती है। आलस्य-वश कोई पड़ा रहे, यह दूसरी बात है, किन्तु इस कालमें उत्तम निद्रा नहीं आती।

धर्मार्थका चिन्तन कर शौच जाना चाहिये। शौच बस्तीसे लगभग एक मील या सुविधानुसार दूरी पर जाना चाहिये। शहरोंमें जहां बाहर जानेका प्रबन्ध सम्भव नहीं है वहां शौचादिके बाद घूमना चाहिये। प्रातःकालकी वायु अत्यन्त शुद्ध होती है। कहते हैं; कि ४ बजेसे ५ बजे तक जो वायु बहती है वह स्वास्थ्यके लिये

अत्यन्त पौष्टिक भेषजके समान होती है। भ्रमण भी व्यायामका अंग है और उसकी गणना अत्युत्तम व्यायामोंमें होती है। शौचसे निवृत्त होकर स्नान करना चाहिये। स्नानके पहले या पीछे थोड़ा व्यायाम अवश्य करना चाहिये। किन्तु पहले करना चाहे तो व्यायामके कुछ देर बाद स्नान करे। व्यायामके पहले स्नान करनेसे शरीरके छिद्रों पर जमा हुआ मल धुल जाता है। वे स्वच्छ हो जाते हैं, जिससे पसीना जल्द निकल आता है और वायु-संचार भी सरलतासे हो जाता है। व्यायामके बाद स्नान करनेसे पसीनेसे निकला हुआ मल धुल जाता है और शरीरकी थकावट दूर होकर नवीन स्फूर्ति मालूम पड़ने लगती है। जो हो, व्यायाम पहले और पीछे दोनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। व्यायामसे शरीरमें बल बढ़ता है, स्फूर्ति आती है। उत्साह-वृद्धि होती है। परिपुष्ट शरीरमेंही परिपुष्ट मस्तिष्क रहता है। यह खेदकी बात है कि शिक्षित समाजका व्यायामकी ओर ध्यान नहीं है। विद्या-व्यसनी लोग केवल शुष्क अध्ययनको ही सब कुछ समझते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि युवावस्थामें उनका स्वास्थ्य गिर जाता है और वे वृद्धकी भांति मालूम पड़ने लगते हैं। जिस शिक्षाके लिये वे अपना स्वास्थ्य खोते हैं उसका आनन्द भी बिना स्वास्थ्य नहीं उठा सकते। इस प्रकार स्वास्थ्य-हीन होनेसे उन्हें संसार शुष्क प्रतीत होने लगता है। उनकी आयु भी अल्प होती है। ऐसे पुरुष, जिनका स्वास्थ्य उत्तम नहीं है, न अपनी स्वार्थ-पूर्तिकर सकते हैं और न दूसरोंका उपकार। व्यायाम की उपेक्षाने अनेकों विद्यार्थियोंका जीवन कष्टमय बना दिया है।

उनका जो धन अमूल्य देश-सेवाके कार्यमें आ सकता था डाक्टरोंने यहां हाजिरी बजानेमें व्यतीत होता है।

यों तो व्यायामकी आवश्यकता सभी स्त्री-पुरुषोंके लिये है किन्तु मास्तिष्किक कार्य करने वालोंके लिये तो यह बहुत ही आवश्यक है। जो लोग किसी प्रकार शारीरिक श्रम करके स्वेद द्वारा अपने शरीर का मल निकाल देते हैं वे तो साधारणतया यों भी स्वस्थ रह सकते हैं कि किन्तु जो लोग बराबर बैठे रहते हैं और शारीरिक श्रमका अवसर बहुत कम पाते हैं, वे यदि व्यायाम न करें, तो उनका शरीर क्षीण हो जायगा। उनका उदर भोजन पचाने योग्य न रहेगा। अष्टांग-हृदयमें व्यायामका महत्व बतलाते हुए कहा है:—

> विरुद्धं वा विदग्धं वा भुक्तं शीघ्रं विपच्यते।
> भवन्ति शीघ्रं नैतस्य देहे शिथिलतोदयाः।
> लाघवं कर्म-सामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः।
> विभक्त-घन-गात्रत्वं व्यायामादुपजायते ।

अर्थात् व्यायाम करनेसे प्रकृति विरुद्ध तथा ठीक-ठीक न पका हुआ अन्न शीघ्र पच जाता है और देहमें कभी सुस्ती या शिथिलता नहीं आती। व्यायामसे फुर्ती आती है, काम करनेकी शक्ति पैदा होती है। जठराग्नि तीव्र हो जाती है, व्यर्थ बढ़ी हुई चर्बी छंट कर शरीर सुडौल एवं सुदृढ़ हो जाता है। किन्तु जो बहुत दुर्बल हो, जिसे फेफड़ा सम्बन्धी रोग हो, उसे व्यायाम न करना चाहिये। उसके लिये टहलना ही व्यायाम है। इसी प्रकार भोजनान्तर और मास्ति-

ङ्किक या शारीरिक थकानके समय व्यायाम न करना चाहिये। व्यायामका परिमाण भी उतना ही होना चाहिये जितना शरीरको अवस्थाके अनुकूल हो। शक्तिसे अधिक व्यायाम करनेसे लाभके स्थान पर हानि हो जाती है।

आजकल अनेक प्रकारके विदेशी व्यायामोंका प्रचार हो गया है। जिनमें कुछ विशेष लाभकारी भी हैं। किन्तु वे प्रायः उन लोगोंके अनुकूल पड़ते हैं जो तदनुकूल परिस्थितिमें हैं। देश-भेदसे अंग प्रत्यंगकी बनावट एवं उनकी पुष्टता आदिके साधनोंमें कुछ अन्तर रहता है। किसी देशके लोगोंको कोई व्यायाम अधिक अनुकूल पड़ता है और किसी देशवालोंको प्रतिकूल। भारतीयोंके लिये लिये प्राचीन व्यायाम उत्तम है। आसन भी बहुत लाभप्रद हैं। प्रथक् २ अंगोंकी पुष्टिके लिये भिन्न २ प्रकारके आसन नियत हैं। कुछ आसन ऐसे भी हैं जिनका प्रभाव मनुष्यकी बुद्धि एवं आभ्यन्तरिक वृत्तियों पर पड़ता है। इसीलिये आसन योगका एक अंग माने गये हैं।

इस समस्त कथनका सारांश यह है कि स्नानके पहले या पीछे व्यायाम अवश्य करना चाहिये। यह व्यायाम खुली हवामें करना चाहिये। बन्द स्थानमें व्यायाम करके सहसा बाहर निकलनेसे रोग भी हो जाते हैं। व्यायाम करनेके बाद जब पसीना सूख जाय और शरीरकी थकावट दूर हो जाय तब स्नान करना चाहिये।

स्नानका महत्व कुछ कम नहीं है। इससे शरीर पर जमा हुआ मल धुल जाता है, जिससे शरीरके छिद्रोंके द्वार खुल जाते हैं

और स्वेद निकलनेका मार्ग साफ हो जाता है। स्नानके अनन्तर शरीरमें खून दौड़ता मालूम होता है और स्फूर्ति-सी आ जाती है। पेटमें बदहज्मी होनेपर भी स्नानके बाद कुछ भूख मालूम पड़ने लगती है। वैद्यक ग्रन्थोंका मत है:—

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम् ।
कण्डू-मल-श्रम-स्वेद-तंद्रा-तृड्-दाह-पाप्मजित् ।

अर्थात् स्नानसे जठराग्नि तीव्र होती है, शरीर पुष्ट होता है, बल बढ़ता है और खुजली, मल, परिश्रमसे उत्पन्न होनेवाला पसीना, आलस्य, प्यास, जलन आदि दोष दूर हो जाते हैं। किन्तु स्नानका तात्पर्य यह नहीं है कि इसे केवल धार्मिक कृत्य समझ कर बोझ-सा उतारनेके लिये दो चार लोटे पानी सिर पर डाल लिया जाय। स्नानके समयको शरीर खूब मलकर धोना चाहिये और मोटे खद्दरके खुरखुरे अंगोछेसे रगड़ना चाहिये। यदि सम्भव हो तो नित्य अन्यथा तीसरे चौथे दिन स्नानसे पूर्व तेलकी मालिश भी कर लेनी चाहिये। यह प्रक्रिया साबुनके प्रयोगसे कहीं उत्तम है। साबुन लगाना कोई बहुत उत्तम बात नहीं। कड़ुआ तेल लगाकर इस प्रकार स्नान करनेसे शरीरका रंग निखर जाता है। देह चिकनी रहती है। चर्म रोग नहीं होते। नीची कोटिका साबुन काममें लानेसे चर्मरोग उत्पन्न हो जाते हैं और खाल पर रूखापन आ जाता है। इसलिये साबुनादिका प्रयोग यथासम्भव कम करना चाहिये।

स्नानके लिये प्रातःकालका समय सर्वोत्तम है। स्नान करनेके

बाद काम करनेसे उसमें चित्त अच्छा लगता है। कार्य करनेमें उत्साह रहता है। हां, ग्रामोंके कृषक जो कभी-कभी रात्रिके ३ बजे से ही खेतोंमें जा डटते हैं और दिनके १२ बजे तक लगातार काम करते हैं उनका शरीर पसीनेसे लथपथ हो जाता है। इसलिये उन्हें दोपहर को स्नान अवश्य करना चाहिये। भारतमें कृषि आदि अनेक व्यापार करनेकी प्रणाली अत्यन्त दूषित है। उसका ठीक प्रचलित रीतिके अनुसार पालन करते हुये कोई मनुष्य अपनी दिनचर्या ठीक नहीं रख सकता। हमारे व्यवहारोंमें जिसकी सबसे बड़ी कमी है, वह है नियमन। इससे लाभके बदले हानि होती है। व्यापारी प्रातः ६ बजे उठता है और जैसे तैसे झट-पट किसी प्रकार शौचसे निवृत्त हो कर दूकान पर जा डटता है इससे न उसका लाभ होता है और न ग्राहकों का। इसलिये प्रातःकाल दैनिक नियमों से निवृत्त हो कर ही व्यवसायिक कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिये।

स्नान प्रायः ठंढे पानीसे करना चाहिये। नित्य गरम जलसे स्नान करने वालेको यदि कभी ठंढे जलसे नहाना पड़ जाय तो वह बीमार पड़ जायगा। ठंढे जलसे स्नान करने पर शरीरमें जैसी फुर्ती आती है वैसी गरम जलसे स्नान करने पर नहीं। यदि सम्भव हो तो शामको भी स्नान करना चाहिये। विद्यार्थियों या इस प्रकारके मास्तिष्किक श्रम करने वालों को तो दोनों समय स्नान करनेकी आदत डालनी चाहिये। कमसे कम गर्मी और वर्षामें तो शामको स्नान करना ही चाहिये।

स्नान करनेके पश्चात् वैदिक मन्त्रोंसे सन्ध्या तथा अग्निहोत्र करना चाहिये। सन्ध्या-हवनके महत्त्वके विषयमें बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यह प्रत्येक पुरुष का नैसर्गिक कृत्य है। इसे कर्तव्य समझ कर करना चाहिये। यह बड़े शोककी बात है कि मनुष्य सारा समय उदर-पूर्ति की चिन्तामें लगा देता है किन्तु उदर-पूर्ति करने के साधनोंको प्रदान करने वाले की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देता। सन्ध्या-हवनसे आन्तरिक शान्ति मिलती है और स्वास्थ्य सुधरता है। प्राणायामसे प्राण-शक्ति की वृद्धि होती है। अतः इन दोनों कार्योंको बिना विस्मृति के नियम पूर्वक करना चाहिये। यह सब कृत्य सूर्योदय होते-होते समाप्त हो जाना चाहिये। तत्पश्चात् कुछ हल्का जलपान कर आवश्यक कार्यमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये। किन्तु यह सदा ध्यान रखना चाहिये कि हमारे व्यवसायिक कार्यों में भी अनुचित व्यवहार हो। असत्य-भाषण, बेईमानी, दूसरोंके शोषण आदि अनुचित कार्योंसे हमारी जीविका उत्पन्न न हो। जीविका शुद्ध होनेसे अन्तःकरण और बुद्धि भी शुद्ध रहती है। क्योंकि "जैसा अन्न वैसा मन"।

विद्यार्थियोंका सन्ध्या हवनके बाद एकाग्र-चित्तसे पढ़ना चाहिये। पढ़ते समय इधर-उधरकी बातें न सोचनी चाहिये। इससे सारा समय व्यर्थ चला जाता है। प्रातःकाल प्रायः वह पाठ पढ़ना चाहिये जो विद्यालयमें सुनाना हो। साथ ही जो पाठ आगे पढ़ने हों उन्हें भी पहले ही से घर पर स्वयं पढ़ कर जाना चाहिये। ऐसा करनेसे स्कूलमें पढ़ाये हुये पाठ सरलतासे समझमें आ जाते हैं और याद हो जाते हैं।

दो तीन घण्टे, या सुविधानुसार जैसा नियम बना रक्खा हो उसके अनुकूल ही, कार्य करके १० बजे या मध्याह्न कालमें भोजन करना चाहिये। भोजनमें इतना ध्यान आवश्यक है कि वह नित्य निश्चित काल पर ही किया जाय। ठीक समय पर भोजन न करनेसे पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है। चूंकि भोजनसे ही रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेदा, वीर्य, ओज और बुद्धि बनती है, भोजन ही सारे शरीरका परिचालक है; अतः इसके विषयमें बहुत अधिक सावधानी की अपेक्षा है। भोजन करते समय इस बातका बड़ा ध्यान रखना चाहिये कि उसका शरीर पर क्या प्रभाव पड़ेगा। जो कुछ सामने आ जाय उसे बिना विचार किये खा लेना ठीक नहीं। किसी नीतिकार का वचन है:—

यच्छक्यं ग्रसितुं भक्ष्यं, ग्रस्तं परिणमेच्च यत्।
हितञ्च परिणामे स्यात्तदाद्यं भूतिमिच्छता॥

अर्थात् जो भोजन सरलतासे खाया जा सके, खा लेनेके पश्चात् जो सरलताके साथ पचाया जा सके, और पचा लेते पर जो शरीरके लिये लाभप्रद सिद्ध हो वही भोजन ग्रहण करना चाहिये। कैसा सुन्दर उपदेश है! अनेक पदार्थ ऐसे हैं जो पौष्टिक हैं और स्वादिष्ट भी, किन्तु उनको पचाना सर्वसाधारण का काम नहीं है। घृत बहुत शक्ति-दायक है किन्तु २० सेर इकट्ठा खाया नहीं जा सकता। आध सेर खाया भी जा सकता है किन्तु सबके द्वारा पचाया नहीं जा सकता। मदिरा, मांस खाया भी जा सकता है, पचाया भी

आ सकता है, किन्तु लाभकर नहीं। इसलिये हर प्रकारका भोजन कभी पथ्य नहीं हो सकता।

भोजन से ही सतोगुणी, रजोगुणी, एवं तमोगुणी बुद्धिका निर्माण होता है। अतः भोजनके भी सात्विक, राजस और तामसिक ये तीन भेद किये जा सकते हैं। चिकने, पौष्टिक, मधुर, रुचिकारक और सरस भोजनकी गणना सात्विक भोजन में है। इसमें दुग्ध, घृत, मधुर फल, स्वास्थ्यकर दुर्गन्ध-रहित शाक, उत्तम अन्न आदि हैं। राजस भोजनमें कड़वे, खट्टे, नमकीन, गरम, तीखे और रूखे पदार्थोंका आधिक्य रहता है और तामस भोजन नीरस, रखा हुआ, अभक्ष्य पदार्थों से बनाया हुआ होता है। इन में प्रथम सात्विक भोजन ही उत्तम है। मस्तिष्क से विशेष कार्य लेने वाले जन-वर्गको तो सात्विक भोजनका ही व्यवहार करना चाहिये। तामस भोजन तो राक्षसी भोजन है। उसका तो सर्वथा परित्याग करना चाहिये। विद्यार्थियोंको जहां तक हो, मिर्च मसालों एवं खट्टे तीखे पदार्थोंसे बचना चाहिये। तरुण पुरुषों अथवा स्त्रियों पर इनका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है।

भोजन बहुत चबा कर करना चाहिये। परमेश्वरने चबानेके लिये दांत दिये हैं और पचानेके लिये आंत। आंत चबाने और पचाने-दोनों कार्योंको-किस प्रकार कर सकती है? जल्दी २ किया हुआ भोजन अपरिपक्व ही निकल जाता है। उससे रस नहीं बनता। उसको खाना, न खाना बराबर ही होता है। भोजन करते समय इस पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि पेट कुछ खाली रहे। उसमें

इतना स्थान अवश्य रहें कि वायु का संचार सरलतासे हो सके। इस प्रकार किया हुआ भोजन बल-दायक होता है।

भोजन करते समय खूब प्रसन्न रहना चाहिये। यदि किसी कारण वश भोजन बनाने या परोसनेमें त्रुटि रह गयी हो तो उस पर क्रोध नहीं करना चाहिये। बहुतसे लोग इसीलिये गान-वाद्य के साथ भोजन करते हैं कि भोजन करते समय चित्त प्रसन्न रहे। इससे भोजन शीघ्र पच कर रक्त अधिक बनाता है। वस्तुतः अन्न बहुत पवित्र वस्तु है और पवित्रताके साथ उसका व्यवहार भी होना चाहिये।

भोजनके पश्चात् बायें करवटसे थोड़ा आराम कर लेना लाभदायक है। किन्तु सोना सर्वथा हानिकारक है। विद्यार्थियों को तो दिनमें सोना सर्वथा निषिद्ध है। इसी लिये ब्रह्मचर्य व्रत धारण कराते समय गुरु द्वारा शिष्यको दिनमें न सोनेका उपदेश देनेकी प्रथा है। साधारण गृहस्थ यदि ग्रीष्म कालमें १ घण्टा सो लें तो कोई हानि नहीं।

इसके पश्चात् दिन भर, जो व्यवसाय हो उसे न्याय तथा धर्मानुकूल करना चाहिये। सायंकाल कार्य से निवृत्त हो कर फिर दैनिक विधि पूर्ण करनी चाहिये और भोजन कर भविष्य तथा भूत का चिन्तन करना चाहिये। जहां तक हो, रात्रिके दो तीन घण्टों का उत्तम उपयोग होना चाहिये। इसके लिये अपना कार्य निश्चित कर लेना चाहिये और नित्य उसीके अनुकूल व्यवहार करना चाहिये।

भोजनोपरान्तका समय बड़े महत्त्वका है। विद्यार्थी दिनभर का पढ़ा हुआ पाठ इस समय तैयार कर सकते हैं। ताजी पढ़ी हुयी बात मस्तिष्क पर स्फुट अंकित भी रहती है अतः उनके दुहरानेमें सुविधा होती है। साथ ही एक बार पढ़ा हुआ पाठ यदि पढ़नेके कुछ समय बाद ही दोहरा लिया जाता है तो उसका संस्कार मस्तिष्कमें स्थायीरूपसे जम जाता है। वह बहुत काल तक याद रहता है। यदि उस समय उसपर ध्यान न दिया जाय तो फिर वह इस प्रकार भूल जाता है कि प्रयत्न करने पर भी स्मरण नहीं आता। जो विद्यार्थी नित्यका पाठ नित्य याद न कर उसे दूसरे दिनके लिये छोड़ देते हैं उन्हें समय भी अधिक लगाना पड़ता है और कक्षामें कमजोर भी रहते हैं। बहुत से विद्यार्थी अपने नैत्यिक पाठ पर ध्यान नहीं देते। उसे वे परीक्षाकालके लिये छोड़ देते हैं। जब परीक्षा समीप आती है और वे सारी पाठ्य पुस्तकोंपर दृष्टि डालते हैं तो उनकी दशा उस पुरुषकी-सी होती है जो तैरना न जानते हुये भी खेल-खेलमें नदीकी तीव्र धारामें आगे बढ़ता चला जाता है और सहसा अपनेको इतने गहरे पानीमें पाता है, जहां से न तो वह पीछे लौटनेकी सामर्थ्य रखता है और न आगे बढ़नेकी। धीरे-धीरे वह वहीं गोते खाने लगता है, और अन्तमें दुःखान्त गतिको प्राप्त होता है। अतः विद्यार्थियोंको इस समयका बहुत अच्छा उपयोग करना चाहिये।

साधारण घरोंमें इस समय एकत्रित होकर लोग भिन्न२ विषयोंपर चर्चा करते हैं। इससे बहुत लाभ होता है। थोड़ा समय मनोरञ्जन

के लिये अवश्य चाहिये। बिना मनोरञ्जनके जीवन नीरस और चेहरा सुस्त रहता है। विद्यार्थियोंको भी इस मनोरञ्जनसे वञ्चित न रहना चाहिये। उन्हें तो और भी प्रसन्न रहना चाहिये। बच्चोंका हंसता हुआ ही मुख अच्छा लगता है। प्रसन्न चित्त बालकोंको ही सब प्यार करते हैं। मुहर्रमी सूरत किस काम की? किन्तु कार्य-कालका भी ध्यान रखना चाहिये।

दिन भरके आवश्यक कार्योंकी समाप्ति हो जानेपर ६ बजे से १० बजेके भीतर सो रहना चाहिये। किन्तु सोनेके पूर्व अपनी दिन-चर्या पर विचार करनेके लिये कुछ मिनट देने चाहिये। उस समय यह विचारना चाहिये कि आज मुझसे किसी दैनिक कार्यमें कोई भूल तो नहीं हुयी है? मैंने किसीका चित्त तो नहीं दुखाया है? मिथ्या भाषण तो नहीं किया है? मेरे पास बेईमाई अथवा किसी अन्य अनुचित रीतिसे धन तो नहीं आया है? मुझसे आज कोई करणीय कार्य छूट तो नहीं गया है? यदि ऐसा हो गया हो तो उसपर आन्तरिक पश्चात्ताप कर दूसरे दिनसे वैसा न करनेकी प्रतिज्ञा करे और किये हुए अनुचित कार्यका शुद्ध हृदयसे प्रायश्चित करे।

सोना जीवनका बहु-मूल्य अङ्ग है। यह भी परमेश्वरकी बहुत बड़ी देन है। एक भी दिन ठीक निद्रा न आनेपर बड़ी व्याकुलताका अनुभव होने लगता है। वे व्यक्ति बड़े भाग्यशाली हैं जो दिन भर न्याय एवं धर्म-युक्त कर्तव्योंका पालन करते हुये रात्रिको समस्त चिन्ताओंसे मुक्त होकर सुखकी नींद सोते हैं। यदि मनुष्य

बराबर कार्य करता रहे और सोवे न, तो एक सप्ताहके भीतर पागल हो जाय। दिनभरकी व्यय की हुयी शक्ति निद्राके द्वारा पुनः प्राप्त होती है। थका हुआ मनुष्य भी रातको सोकर प्रातःकाल नवीन स्फूर्तिका अनुभव करता है।

किन्तु कितनी भी उत्तम वस्तु क्यों न हो, उचित उपयोग करने पर ही लाभदायक होती है। निद्राका भी उचित उपयोग न कर यदि कोई मनुष्य प्रायः सोता रहे तो वह निकम्मा हो जायगा। बालकोंको ८ घण्टे, तरुणोंको ७ घण्टे और प्रौढ पुरुषोंको ६ घण्टे सोना पर्याप्त है। इससे अधिक निद्रा आती भी नहीं। अधिक काल तक पड़े रहनेवाले मनुष्य निद्राके कारण नहीं, आलस्यसे पड़े रहते हैं।

सायङ्काल शीघ्र सोकर प्रातःकाल शीघ्र उठ जाना लाभकर है। रात्रिको १० बजे के बाद तो कभी न जागना चाहिये। इससे स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। भाव प्रकाशमें लिखा है:—

निद्रा तु सेविता काले धातुसाम्यमतन्द्रिताम्।
पुष्टि-वर्ण-बलोत्साहं वह्नि-दीप्तिं करोति हि॥

अर्थात् ठीक समय पर सोने और जागनेसे सब धातु ठीक रहते हैं, आलस्य नहीं आता, देह पुष्ट होती है, रङ्ग निखरता है, उत्साह और शक्ति बढ़ती है तथा जठराग्नि तीव्र होती है।

इस प्रकार नियम-पूर्वक आचरण करनेसे मनुष्यके सब काम ठीक-ठीक चलते रहते हैं। वह आगे बढ़ता जाता है। उसे कभी ऐसा

कहनेका अवसर नहीं आता कि 'हाय ! समय रहते मैंने अमुक कार्य नहीं किया।' इसलिये प्रत्येक महात्वाकांक्षीको ये शब्द गांठमें बांध लेने चाहिये:—

काल्हि करै सो आजु कर, आजु करै सो अब्ब।
पलमें परलय होत है, बहुरि करैगा कब्ब॥

बालकों के कर्तव्य

एक महाकविका वचन है 'Child is the father of man !' अर्थात् बालकमें मनुष्यकी शक्ति निहित रहती है। बालक ही आगे चलकर युवक, गृहस्थ, शिक्षक, नेता आदि सब कुछ बनते हैं। अतः जिस देशके बालक अधिक कर्तव्य-निष्ठ एवं आदर्श चरित्रके होते हैं वह देश भी अधिक उन्नत होता है। काल-गतिसे अथवा पूर्वजोंकी असावधानीसे चाहे वह देश अल्प-कालके लिये पतित भी हो जाय किन्तु ऐसे बालकोंके अभ्युदयके साथ ही उसका भी भाग्य खुल जाता है। अल्पकालमें ही उसकी ज्योति इतनी निखर जाती है जो सारे संसारकी आखोंको चकाचौंध कर देती है। ऐसे बालक किसी देशको बड़े भाग्यसे मिलते हैं। आज भारतभूमिको ऐसे ही आदर्श बालकोंकी आवश्यकता है। इसलिये पहले बालकोंको जिन-जिन बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये उनका दिग्दर्शन कराना यहां उचित होगा।

प्रत्येक बालकको नम्र एवं विनय-शील होना चाहिये। अपनी

आत्माके विरुद्ध तो कभी काम न करना चाहिये और न आत्मापमान की उपेक्षा ही करनी चाहिये। जो बात अपने गौरवको ठेस पहुंचानेवाली हो, जिसके करनेमें आत्महनन करना पड़े उसे कभी न करना चाहिये। किसीके दबाव अथवा किसी लालचसे आत्माके प्रतिकूल बोलना या कार्य करना महापाप है। किन्तु आत्माकी आज्ञा क्या है, यह समझना हर एक बालकका काम नहीं। आत्म-प्रेरणाकी आड़में कभी कभी बड़ा धोखा हो जाता है। बहुतसे लड़के अपनी इच्छाके विरुद्ध माता, पिता एवं गुरु की आज्ञा माननेमें भी अपना अपमान समझने लगते हैं। यह स्वाभिमान नहीं घमण्ड है, जो विनाशकी ओर ले जाता है। बालकोंको नम्रता ही शोभा देती है। अपनेसे बड़ोंके सामने श्रद्धापूर्वक मस्तक नवाना चाहिये। उनकी आज्ञाओंका पालन करना चाहिये। उनके सामने बहुत शिष्टतासे बातचीत करनी चाहिये। समय पड़ने पर, पड़ोसी तो क्या, सबका कहना कर देना चाहिये। किसीके प्रति अश्लील शब्दों का प्रयोग न करना चाहिये। किसीको गाली देना जिह्वाका दुरुपयोग है। अपने गुरुजन यदि डांट फटकार भी दें तो बुरा न मानना चाहिये। वे किसी दुर्भावनासे ऐसा नहीं करते। गुरुजनोंके कटु शब्दोंको पुष्पतुल्य सिरपर धारण करना चाहिये। क्योंकि चाणक्यने कहा है:—

लालनाद्बहवो दोषास्ताडनाद्द बहवो गुणाः।

अर्थात् लालन करनेसे बालकोंकी बहुत हानि होती है और

डांटनेसे वहुत लाभ होते हैं। वालकोंका स्वभाव तो इतना नम्र होना चाहिये कि सब उनकी प्रशंसा करते रहें।

अपने गुरुजनोंको प्रणाम करते समय यह न समझना चाहिये कि हम उनके प्रति मस्तक झुका कर उनकी प्रतिष्ठा वढ़ा रहे हैं। इससे अपना ही लाभ है। जब हम किसी महापुरुषको प्रणाम करते हे तो उसका अन्तःकरण हमारे प्रति स्नेहमय अवश्य हो जाता है और हम उसके सच्चे आशीर्वादके अधिकारी वन जाते हैं। इसे वड़ा लाभ होता है। मनुजीके मतमें वड़ोंको प्रणाम करनेवालेकी आयु विद्या, यश और वल दिन-दिन वढ़ता है। तुलसीदासजी तो मधुर भाषण और विनयको वशीकरण मन्त्र मानते हैं। अतः वालकोंका प्रथम गुण मधुरभाषण, नम्रता और वड़ोंपर श्रद्धा तथा उनकी आज्ञाका पालन होना चाहिये।

दूसरी वात जिसकी भारतीय छात्रोंको अत्यन्त आवश्यकता है, वह है आर्य-धर्म, आर्य-संस्कृति, आर्य-भाषा, आर्य-साहित्य और आर्य-भूमि के प्रति सच्ची श्रद्धा और भक्ति। वर्तमान शिक्षा और वातावरण हमें मातृ-भाषा और मातृ-भूमिपर अभिमान करना नहीं सिखाता। मातृ-भूमिकी भक्ति न केवल वाञ्छनीय ही है किन्तु ऐसा न करना पाप है। जिसका नमक खा पर हम प्राणोंका पालन करते है, जिसके अन्नसे वनी हुयी इन्द्रियोंसे कार्य करते और आनन्दका उपभोग करते हैं, उसका हम पर कितना ऋण है? माताकी दो सन्तानोंमें एक मौज उड़ाये और दूसरी भूखों मरे, यह कहां तक उचित है? इसलिए प्रत्येक कार्य करते

समय, प्रत्येक वस्तुका उपभोग करते समय, भारतीय दृष्टि-कोणसे विचार करना चाहिये। अमुक वस्तुके उपभोगमें हमारा कहां तक अधिकार है? अमुक कार्यका जन-साधारण पर क्या प्रभाव पड़ेगा? हमारी भाषा, भूषा, वेश, भोजन और विचारों में कहां तक भारतीयता है? इन प्रश्नोंका यदि सन्तोष-जनक समाधान अपने पास हो तो उन वस्तुओंका ग्रहण करना चाहिये और उन कार्यों को करना चाहिये अन्यथा नहीं। यों तो प्रत्येक देश-वासी को अपनी मातृ-भूमि पर गर्व करना ही चाहिये, फिर उसके पास यदि गर्वके कारण भी हों तब तो उसका अधिकार और भी निश्चित माना जायगा। भारतवर्ष संसारमें सर्व-श्रेष्ठ देश है। विद्या, कला, उत्पत्ति आदि सभी दृष्टियोंसे भारत संसारका गुरु रहा है। उसके सन्तानका यह कर्तव्य है कि वह भारतीय होनेका अभिमान करे और सच्चा भारतीय बन कर संसार के सामने आदर्श छोड़ जाय।

तीसरी बात, जिसकी बहुत बड़ी आवश्यकता है, वह है अनु-शासन। प्रत्येक व्यक्तिको अपना वैयक्तिक कार्य करते समय यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि उसका प्रभाव देश तथा समाज पर क्या पड़ेगा। यों तो अपने निजी कार्योंमें भी नियमनकी बड़ी आवश्यकता है क्योंकि बड़ी-बड़ी आदतोंका मूल छोटे कार्योंमेंही होता है, जिस मनुष्यका व्यक्तिगत जीवन नियमित नहीं उसकासामा-जिक जीवन नियमित नहीं हो सकता तथापि व्यक्तिगत अनियमितता का प्रत्यक्ष प्रभाव निजी कार्यों पर ही पड़ता है किन्तु सामाजिक कार्यों

में अनुशासन का पालन न करनेसे पूरे समाजकी हानि होती है।

छात्रोंके प्रत्येक कार्य में Discipline होना चाहिये। यह शब्द अपना शुद्ध पर्यायवाची नहीं रखता। डिसिप्लिन बहुत व्यापक शब्द है। छोटी २ क्रियाओंमें एक नियम की आवश्यकता होती है। चलना, फिरना, बात करना, खाना, पीना, सामान रखना आदि सभी छोटी-छोटी बातोंमें यह ध्यान रखना चाहिये कि जो कुछ मैं कर रहा हूं वह ठीक ढंगसे सम्पन्न हो रहा है या नहीं। ऐसा कभी न होना चाहिये कि एक पुस्तक कहीं पड़ी हो और दूसरी कहीं। बैठने के कमरेमें सामान इधर उधर छितरा हुआ हो। सुव्यवस्थासे किया हुआ काम कर्ताके मस्तिष्कके सुव्यवस्थित होनेकी सूचना देता है। जिनमें इस प्रकार कार्य करनेकी अभिरुचि होती है वे सर्वत्र अपना स्थान बना लेते हैं।

बालकोंको जहांतक हो स्वदेशी वस्तुओंका उपयोग करना चाहिये। स्वदेशीके उपयोगसे देशके कारीगरोंको प्रोत्साहन मिलता है। देशका पैसा देशमें रहता है। वर्तमानकालमें जब भारत संसारके दरिद्र देशोंमें प्रमुख है, स्वदेशीके व्यवहारकी बड़ी आवश्यकता है। अच्छा तो यह है कि प्रायः हाथकी बनी वस्तुओं का उपयोग किया जाय। सम्भव है, प्रारम्भिक अवस्थामें हाथकी बनी बहुत-सी वस्तुयें देखने अथवा व्यवहार करनेमें विदेशीय वस्तुओं के सामने अच्छी न जचें, किन्तु क्या इस लिये उनका उपयोग ही न करना चाहिये? क्या अपना पुत्र कुरूप होनेपर त्याग दिया जाता है? फिर यदि हम उत्तमता अथवा सुन्दरताकी दृष्टिसे ही

वस्तुओंका व्यवहार करें तो भारत कभी उत्तम वस्तुयें तैयार करने योग्य न बन सकेगा। आज जो देश मनोरम वस्तुयें तैयार करके भेजते हैं वे सदासे वस्तु-कलामें इसी प्रकार सिद्ध-हस्त न थे। हमारे प्रयोगने ही उन्हें दक्षता प्रदान की है। अतः थोड़ा कष्ट उठा कर भी प्रत्येक भारतीयको भारतीय वस्तुयें ही व्यवहारमें लानी चाहिये।

विद्यार्थियोंको केवल कोर्सकी पुस्तकें पढ़कर सन्तुष्ट न हो जाना चाहिये। उन्हें यह कभी न भूलना चाहिये कि परीक्षा पास कर लेना ही जीवनका मुख्य उद्देश्य नहीं है। जीवन परीक्षासे भिन्न वस्तु है और उसमें सफलता प्राप्त करनेके लिये विस्तृत अध्ययनकी आवश्यकता है। वह अध्ययन महापुरुषोंके अनुभवोंका ज्ञान प्राप्त कर तथा संसारके आचार-व्यवहारोंके सूक्ष्म पर्यवेक्षण द्वारा किया जा सकता है। संसारमें चलते फिरते समय आंख खोलकर चलना चाहिये। और उसमें घटने वाली सूक्ष्म घटनाओंके मूल कारणका ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिये। साथ ही महापुरुषोंके अनुभवों द्वारा प्राप्त किये हुए उपदेशोंको प्रयोगमें लाकर देखना चाहिये। कोरे किताबी ज्ञानसे कोई विशेष नहीं लाभ नहीं। किसी न किसी कला-कौशलमें दक्षता प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

आज कल छात्रोंमें जिस वस्तुका सर्वथा अभाव पाया जाता है, वह है स्वावलम्बन। इसका मुख्य कारण यह है कि उन्हें किसी प्रकारके कला-कौशलकी शिक्षा पानेका अवसर नहीं मिलता। स्कूलोंमें जो कुछ पढ़ाया जाता है वह केवल मस्तिष्ककी आवश्यकता को पूरा करता है। समाजमें फैशनका भूत सवार होनेसे प्रायः

छात्र भड़कीला वेश बनाने तथा अधिकसे अधिक रईसी व्यवहार करनेमें ही अपनी शोभा समझते हैं। इन्हें अपना काम स्वयं करते लज्जा मालूम होती है। फलतः वे पूर्णतया निकम्मे बन जाते हैं। यह एक भयङ्कर भूल है जिससे सभी छात्रोंको सावधान रहना चाहिये। अपना काम स्वयं कर लेना महत्ताका सूचक है। इससे अपूर्व आत्म-सन्तोष प्राप्त होता है।

खान-पान, व्यायाम, चरित्र-रक्षा आदि पर अन्यत्र विवेचन किया जा चुका है! चरित्र सबसे बड़ा बल है। छात्रोंको इस ओर सबसे अधिक ध्यान देना चाहिये। एक चरित्र-पालनसे अनेक गुणोंकी प्राप्ति विना परिश्रम हो जाती है और चरित्र-हीन व्यक्तिकी बृहस्पतिके समान विद्वत्ता व्यर्थ होती है। अतः बालकोंको प्राणोंके समान चरित्रका ध्यान रखना चाहिये।

जाति और वर्ण

चार वर्णों पर विचार करते समय उनकी उत्पत्ति और आवश्यकता पर पर्याप्त विचार किया जा चुका है। तथापि आज कल उठते हुए जांति-पांति-तोड़क प्रवाहको दृष्टिमें रख कर उनके विषयमें पृथक विचार करना समीचीन ज्ञात होता है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक गृहमें भिन्न-भिन्न प्रकारके कार्य करनेके लिये भिन्न २ प्रकारके मस्तिष्कोंकी आवश्यकता होती है। एक व्यक्ति सभी दिशाओंमें समान रूपसे सफल नहीं हो सकता। बहुत दिनों तक एक कार्य करते रहनेसे मनुष्य उसका अभ्यासी हो जाता है। उसे उस विषयके बहुतसे अनुभव भी प्राप्त हो जाते हैं। एक घरमें रहनेसे उसकी सन्तानें भी रात दिन उस विषय पर वार्तालाप सुनकर तथा क्रियाओंको देख कर बिना श्रमके उस विषयका बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेती हैं। इस कारण प्राचीन कालमें अपनी २ प्रवृत्तिके अनुकूल जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाये उनकी सन्तति भी प्रायः उसी प्रकारके आचरणमें लग्न रही, और ऐसा होना स्वाभाविक भी था। फलस्वरूप ब्राह्मणोंके पुत्र ब्राह्मण, और क्षत्रियों के क्षत्रिय आदि होने लगे। समाजमें सभीकी सेवा सत्कारके साथ ग्रहण की गयी। देव-मन्दिरमें पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयंसे कोई भेद-भाव

उत्पन्न न हुआ। इसलिये बहुत काल तक किसीने अपना पैतृक व्यवसाय छोड़कर अन्य व्यवसाय ग्रहण न किया, यद्यपि इसके लिये कोई बन्धन न था। बहुत काल तक बिना किसी अपवादके यह वर्ण-व्यवस्था चलती रही और एक प्रकारसे लोगोंको ऐसी धारणा हो गयी कि ब्राह्मणोंकी सन्तान ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी सन्तान क्षत्रिय आदि होती है। जब तब दो चार अपवाद भी मिले। किसी क्षत्रियमें ब्राह्मण-प्रवृत्ति देखी गयी या ब्राह्मणमें वैश्य-प्रवृत्ति देखी गयी, अथवा शूद्रने विद्या,बुद्धि,एवं चरित्र-बलसे ब्रह्म-शक्ति प्राप्त की तो उन्हें सहर्ष उनके अनुकूल वर्णोंमें स्थान दिया गया। उस समय वर्णगत ऊंच नीचका तो भेद ही न था। हां, त्यागी, तपस्वी महात्माओंका सम्मान अवश्य होता था और ऐसा होना अनिवार्य भी था।

जन-साधारण प्रत्येक गूढ़ विषयके मर्मज्ञ कभी नहीं होते। वर्ण व्यवस्था का मूल-स्वरूप धीरे-धीरे उनके सामनेसे हटता-सा गया। जिस प्रकार किसी देशमें धनकी कमी न देख कर कोई धनी शब्द को उसका पर्यायवाची मान ले और कालान्तरमें उस देशके निर्धन व्यक्तिको भी धनी मानता रहे उसी प्रकार ब्राह्मणादि वर्णोंके पर्यायवाची उस वर्णमें उत्पन्न पुरुष मान लिये गये और यदि दुर्भाग्यवश उस वर्णमें अपने अनुकूल गुण, कर्म, स्वभावसे रहित भी कोई व्यक्ति हुआ तो उसे जन्मके वर्णका न माननेकी आवश्यकता पीछे समाजने न समझी। इस ढिलाईका परिणाम भयङ्कर हुआ। जिन वर्णोंके जिम्में कठिन कार्य थे, उन्होंने सोचा कि व्यर्थ कष्ट उठानेसे क्या लाभ ? जिस प्रकार अमुक व्यक्ति अन्य वर्णका आचरण करता

हुआ भी अपने वर्णमें गिना जाता है उसी प्रकार हम भी कर सकते हैं। साथ ही एक और कुत्सित भावना उत्पन्न हो गयी। समाजने प्रबन्ध किया था कि ब्राह्मण जन साधारणकी शिक्षाका प्रबन्ध करें, उन्हें आवश्यक विषयों पर उत्तम सलाह दें और सन्मार्ग पर लगावें, क्षत्रिय बाहरसे आने वाली विपत्तियों, अनार्य एवं अन्य समाज-द्रोही व्यक्तियोंके उपद्रवोंसे उन्हें बचावें, इसके बदलेमें जनता उनके भरण-पोषणका प्रबन्ध करे क्योंकि वह उनसे सहायता पाती है। किन्तु कुछ कालके कठिन परिश्रमके बाद जब आवश्यक प्रश्न सुलझ गये, अनार्य भी दब गये, देशको किसी प्रकारके भयोंकी आशंका बहुत कम रह गयी तब ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों ने सोचा कि वैश्य, शूद्र आदि हमारा भरण पोषण करनेके लिये बाध्य हैं। हम बड़े हैं, हमारी मान प्रतिष्ठा करना उनका कर्तव्य है। इस प्रतिष्ठाकी भावनाके साथ ही ऊंच नीचका विचार जागृत हुआ। ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके सम्मिलित बुद्धि-बलके सामने अन्य वर्णोंको छोटा बन कर रहने को बाध्य भी होना पड़ा। धीरे-धीरे यह दुर्भावना और भी पुष्ट होती गयी और अन्ततो-गत्वा इस हद तक पहुंच गयी कि प्रत्येक वर्ण एक दूसरेको नीच दृष्टिसे देखने लगा। इस ऊंच नीचके भेदका फल जन्मसे जाति माना जाना स्वाभाविक था। क्योंकि कोई भी उच्च वर्णका व्यक्ति यह कब स्वीकार कर सकता था कि नीच वर्णका कोई व्यक्ति, जिसका पिता तक उसकी बराबरी न कर सका, उसके सामने सीना तान कर बैठे।

जन्मसे वर्ण व्यवस्था मान लेनेका फल यह हुआ कि अकर्मण्यों

को अपनी मूर्खताके छिपानेका अच्छा अस्त्र मिल गया। भाग्यकी लिपिके सिद्धान्त ने इस अन्धवादको और भी सहायता दी। इसका परिणाम समाजके लिये जैसा घातक सिद्ध हुआ वह किसीसे छिपा नहीं है।

किन्तु इस पर विचार करते हुये यह कभी न भूलना चाहिये कि यह वर्ण-व्यवस्थाका मौलिक दोष नहीं है। वर्तमान कालके वर्ण-व्यवस्थाके दोष परिस्थिति-जन्य हैं जिनका सुधार हो सकता है। और ऐसी कौनसी प्रथा या सिद्धान्त है जिसका दुरुपयोग नहीं किया जाता? इसलिये दुरुपयोग की दृष्टिसे वर्ण-व्यवस्थाके सिद्धान्त को दूषित मान लेना बुद्धिमत्ताका काम नहीं। बुद्धिमत्ता उसमें दोष आनेकी सम्भावनाको दूर करनेके उपाय सोच निकालने में है।

भारतमें वर्ण-व्यवस्था तो कहने भरको है। यह कहना अनुचित न होगा कि इस समय वर्ण-व्यवस्था अपने शुद्ध रूपमें कहीं वर्तमान नहीं है। भारतमें वर्णोंका स्थान जातियोंने ले लिया है। वर्ण अनेक जातियोंमें और जातियां उपजातियोंमें बट गयी हैं। उदाहरणार्थ ब्राह्मणोंको लीजिये। देश भेदसे ब्राह्मणोंके कान्यकुब्ज, गौड़, मालवीय, सारस्वत आदि अनेक विभाग हैं। उनमें भी कुछ साधारण अन्तर होनेके कारण अनेकों भेद हैं। जैसे कान्यकुब्जोंमें मिश्र, शुक्ल, वाजपेयी, द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी आदि। स्थान-भेदसे इन भेदोंके भी अनेक भेद हैं। वाजपेयियोंके भी लखनऊ आदि कई मूल स्थान हैं। अतः किसी ब्राह्मणकी जाति जाननेके लिये इतना ही जान लेना पर्याप्त न होगा कि वह ब्राह्मण है। कौन ब्राह्मण है, कौन

आस्पद है, कहांका है, इत्यादि अनेक बातें जाननेके पश्चात् तब उसके कुलकी जानकारी प्राप्त की जा सकेगी। इन मूल स्थानों और आस्पदों के भेदसे ही परस्पर उच्चता नीचताका विचार होता है। विवाहके समय इस उच्चता नीचतापर बहुतध्यान दिया जाता है। प्रत्येक उच्च कुलका ब्राह्मण अपनी उच्चता पर गर्व करता है और अपनेसे शिक्षा, सदाचार आदि सभी विषयोंमें उच्च ब्राह्मणको भी इसीलिये अपनेसे नीचासमझता है कि वह कुलमें उससे नीचा है। कुछ ब्राह्मणोंमें तो ऊंचाई निचाईके स्थूल माप-दण्ड भी नियत कर दिये गये हैं। उदाहरणार्थ, कान्यकुब्ज २० बिस्वोंमें बांट दिये गये हैं। प्रत्येक कान्यकुब्ज ब्राह्मण इन्हीं बीस बिस्वोंके भीतर होगा। इनमें जो अधिक बिस्वोंका होगा उसकी सामाजिक स्थिति उतनी ही उच्च मानी जायगी।

ब्राह्मणोंके वर्ण-भेदों पर विचार करनेसे यह पता चलता है कि उनमें दो प्रकारके भेद हैं। एक विद्या अथवा कर्मकृत, दूसरे स्थानकृत। विद्या-कर्मका भेद सभी स्थानोंके ब्राह्मणोंमें समान है। जैसे चार वेदोंके विद्वान चतुर्वेदी कहलाते हैं। चतुर्वेदी कुटुम्बोंमें चारों वेदोंके अध्ययनकी प्रथा रही होगी। इसलिये चतुर्वेदी कान्यकुब्जों, सरयूपारीणों, गौड़ों और सनाढ्यों आदि सभीमें मिलते हैं। यह भेद प्रायः उच्चता नीचताका कारण नहीं है। चतुर्वेदियोंमें भी किसी स्थान-विशेषसे प्रसूत चतुर्वेदी ऊँचे हैं और कुछ नीचे। इस उच्चता और नीचताके साथ बड़ा इतिहास है। यह बड़ा व्यापक विषय है। संक्षेपमें कह सकते हैं कि ब्राह्मणोंके भेद लगभग दस हजारसे कम नहीं हैं।

यही हाल क्षत्रियोंका है। क्षत्रियोंमें भी इस प्रकारके भेदोंके दो कारण हैं। एक उत्पत्ति-कल्पना-मूलक, दूसरा स्थान-मूलक। क्षत्रियोंकी कुल शाखायें सूर्य, चन्द्र, और किसी-किसीके मतसे अग्निवंशमें बांटी जा सकती है। इनमें से प्रत्येकके अनेक भेद हुए। जैसे सूर्यवंशियोंमें चौहान, राठौर, भदौरिया आदि। इन शाखाओं में भी स्थान भेदसे उच्चता नीचता मानी जाती है।

उपर्युक्त दोनों वर्णोंके उपभेद परस्पर भिन्न होते हुए भी मूल रूपसे एक ही वर्णसे सम्बद्ध माने जाते हैं। चतुर्वेदी और वाजपेयीमें सूक्ष्म अन्तर रहने पर भी स्थूल रूपसे उन्हें ब्राह्मण कह सकते हैं। पर वैश्योंमें यह बात नहीं है। वैश्योंमें व्यवसाय-भेदसे भिन्न २ जातियां बन गयी हैं। स्वयं वैश्य वर्णही आज कल वर्णके रूपमें विद्यमान नहीं है। वैश्य कहनेसे एक व्यापारी जातिका ग्रहण होता है। कुछ जातियां तो ऐसी हैं जिन्हें कुछ विद्वान वैश्य मानते हैं और कुछ शूद्र। इन पेशेसे बननेवाली जातियोंमें भी उपजातियां विद्यमान हैं जो अपने कुछ निश्चित आधारों पर एक दूसरेको उच्च या नीच मानती हैं।

शूद्रोंकी भी बहुत जातियां हैं। भिन्न-भिन्न प्रकारसे समाज सेवा करनेके कारण उनकी बहुत ही टोलियां बन गयीं। आगे चलकर प्रत्येक टोली एक जातिके रूपमें परिवर्तित हो गयी। पेशोंसे उत्पन्न भेदोंमें किसीका कार्य उच्च माना गया और किसीका नीच। इस अन्तरसे कुछ शूद्र उच्च हो गये और कुछ नीच। प्रथम दो वर्ण आजतक उन्हीं नामोंसे पुकारे जाते हैं। वैश्य वर्णका स्थान वैश्यजातिने ले लिया,

किन्तु शूद्र जन्तुका तो बिलकुल अन्त ही हो गया। आज-कलके शूद्र यह विचार भी कम करते हैं कि वे शूद्र हैं।

शूद्रोंके अतिरिक्त कुछ महाशूद्र भी हैं। मध्य-कालमें इन्हें वस्ती के भीतर रहने भी न दिया जाता था। किन्तु उपजातियां इनमें भी विद्यमान हैं।

वर्तमान कालमें आर्य जाति अनेक भेदोंमें विभक्त हो गयी है। भारतकी समस्त जातियोंके उपभेदोंकी यदि गणना की जाय तो इनकी संख्या पचास हजारसे भी अधिक होगी। अनेक ऐसे उपभेद हैं जिनकी जनसंख्या सारे भारतमें १०० के लगभग ही है। इन भेदोंके कारण एक जातिका पुरुष दूसरी जातिको नीच समझता है। यहीं तक नहीं अनेकों सामाजिक कुप्रथायें इन जातियोंका परिणाम हैं। दहेज प्रथा कितनी भयङ्कर है। वर और कन्याका क्रय-विक्रय किसी भी सभ्य देशके मुखपर कालिमा पोतनेके लिये पर्याप्त है। किन्तु भारतके सभी प्रान्तोंके हिन्दुओंमें वह किसी न किसी रूपमें पाया जाता है। एक जातिमें ही, जो उपजातिके अनुसार उच्च माने जाते हैं, वे अपनेको नीची उपजातिकी कन्याओंके ग्रहण करनेका अधिकारी मानते हैं। अज्ञानवश कन्या वाले भी लोक-भयसे उन्हींको अपनी कन्यायें देते हैं। वर पक्ष वाले तो यह समझते हैं कि अन्ततोगत्वा कन्या हम लोगोंको ही मिलेगी, नीचे कुलमें तो व्याही नहीं जा सकती, इसलिये ऊंचा दहेज भी मांगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बहुत सी कन्याओंका विवाह उचित समय पर नहीं हो पाता। इससे समाजमें व्यभिचार बढ़ता है, गर्भ गिराये जाते

हैं, भ्रूण-हत्यायें होती हैं, अनेकों कन्यायें भगायी जाती हैं, वेश्यायें हो जाती हैं, अथवा गुप्त रूपसे आत्म-हत्या कर लेती हैं। इस सबका मूल जाति-प्रथामें है।

ऊंच-नीचका भेद, छुआछूत, खान-पानका मिथ्या ढोंग जाति-प्रथाका ही फल है। कहीं-कहीं तो ये कुरीतियां बहुत उग्र रूप धारण कर चुकी हैं। वर्णोंके अनुसार जो कर्मोंका विभाग किया था उसका तात्पर्य न समझ कर कुछ उच्च जातियां नवीन कर्मोंको ग्रहण नहीं करती और प्राचीन वंशानुगत कर्मोंका भी अनुष्ठान नहीं करतीं। फलस्वरूप वे दरिद्र हो जाती हैं। आज भी आर्योंकी कुछ उच्च उपजातियां कृषि करना दूषित समझती हैं। अध्ययनकी ओर प्रवृत्ति न होनेसे उनके सामने दो प्रकारके ही व्यवसाय रह जाते हैं।' पीर ववर्ची भिश्ती खर वाली नौकरी करना या भिक्षा मांगना। व्यापारका उन्हें ज्ञान नहीं होता। नीचा पेशा करनेसे उनके सम्मानको धक्का पहुंचता है। उदाहरणार्थ; यदि किसी गांवमें वढ़ई, लुहार, तेली या नाई न हो तो कोई उच्च-वर्णवाला वह काम स्वयं नहीं कर सकता चाहे उसकी वड़ीसे वड़ी हानि क्यों न हो जाय। इस प्रकार वे न तो मस्तिष्क द्वारा और न शरीर द्वाराही संसारका ही उपकार कर पाते हैं। जाति प्रथाके अनेक ऐसे छिपे दोष हैं जिनका उद्घाटन वड़ा मनोरञ्जक होता, पर स्थानाभावसे ऐसा करना कठिन है।

जो हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि अनेक जातियोंमें वंट जानेके कारण आर्य जाति छिन्न-भिन्न हो गयी है। इसे शृङ्खलित करना

अत्यन्त कठिन है। जाति प्रथाको बिलकुल मिटाकर भी ठीक-ठीक उन्नति होना सम्भव नहीं। अतः समस्त हिन्दू जाति वैदिक आज्ञाके अनुसार चार भागोंमें ही विभक्त मानी जानी चाहिये। इसीसे चतुर्मुखी उन्नति हो सकती है। ब्राह्मणोंकी समस्त उपजातियां नष्ट होकर ब्राह्मण, क्षत्रियोंकी उपजातियोंके स्थान पर एक क्षत्रिय जाति, उत्पत्ति द्वारा समाजको आवश्यक वस्तुयें प्रदान करनेवालोंकी एक वैश्य जाति, और नौकरी आदि अन्य व्यवसायों द्वारा समाजकी सेवा कर जीविका उपार्जन करने वालोंकी एक शूद्र जाति होनी चाहिये। साथ ही गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार वर्ण-परिवर्तनका अधिकार भी आवश्यक है। किन्तु कोई भी वर्ण नीच न माना जाना चाहिये और न उसे किसी सार्वजनिक अधिकार एवं सुविधासे वञ्चित रखना चाहिये।

कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि वेदोंमें चारों वर्णोंका नाम कहीं नहीं आया है। जहां ब्राह्मण, क्षत्रियादि नाम है वहां उनके साथ वर्ण शब्दका प्रयोग कहीं नहीं हैं। इसलिये वर्ण-व्यवस्था वैदिक नहीं है। किन्तु वेदोंमें स्थान-स्थान पर ब्राह्मणादि शब्दोंके द्वारा उन वर्णोंका ही संकेत पाया जाता है। यह सत्य है कि वेदोंमें आर्य शब्दके साथ दस्यु शब्द भी आता है। संभवतः दस्यु उन लोगोंके लिये है जो समाज-द्रोही है। शूद्र दस्यु वर्गके नहीं है। मनुस्मृति-कालमें उपवर्ण या जातियां बनीं, वर्ण-व्यवस्था नहीं। वर्ण-व्यवस्था वैदिक है और वेदोंके अनुकूल वर्ण-व्यवस्था मान लेनेमें देशकी हानि नहीं कल्याण ही है।

अछूतोद्धार

अछूतका अर्थ है अस्पृश्य। जिन लोगोंको उच्च वर्ण वाले लोग नहीं छूते वे अछूत कहे जाते हैं। इस शब्दका प्रयोग वास्तविक अर्थ में नहीं होता, क्योंकि हिन्दुओंमें केवल चाण्डाल या अन्य तत्सम जातियोंको ही छूना निषिद्ध माना जाता है। अछूतों में प्रायः नीच शूद्रोंकी गणना होती है। चमार, कोली, पासी, खटिक आदि कुछ ऐसी जातियां हैं जिन्हें उच्च वर्ण वाले अपने पात्रोंका स्पर्श नहीं करने देते। आजकल तो श्री महात्मा गांधीने अछूतों को 'हरि-जन' नाम दे दिया है। बात भी ठीक है। सब लोग भगवान् को पतित पावन या दीनबन्धु कहते हैं। तब पतित और दीन भगवान्‌के बन्धु हुये।

ध्यानसे देखा जाय, तोकहना पड़ेगा, कि अछूतोंके साथ मनुष्यका-सा व्यवहार नहीं किया जाता है। अछूत या शूद्र चाहे जितना वृद्ध हो, उच्च वर्ण वालेके सम्मुख चारपाई पर नहीं बैठ सकता। प्रायः अछूतोंके लिये एक बचनका प्रयोग किया जाता है। उनका नाम भी बिगाड़ कर लिया जाता है। समय-समय पर उन पर लात जूतों की वृष्टि कर देना तो प्रायः उच्च-वर्ण वालोंका जन्म-सिद्ध अधिकार है। मन्दिरोंमें न जाने देना, कुओं पर न चढ़ने देना; ये तो दूरके प्रश्न हैं। उच्च वर्ण वाले हिन्दुओं को अछूतों को नीच दृष्टिसे देखनेका यहां तक अभ्यास है कि किसी अछूत को धन-धान्य या विद्यामें उन्नति करते देख वे आश्चर्यसे हक्के-बक्के रह जाते हैं। आश्चर्य

की बात तो यह है कि ऐसे व्यक्ति उन लोगों को, जिन्हें वे म्लेच्छ कहते हैं, उच्च आसन प्रदान करनेमें अपना गौरव समझते हैं।

किन्तु ये सब व्यवहार अत्याचारकी दृष्टिसे नहीं किये जाते। कुछ पुरानी प्रथा ऐसी चली आती है। उसका संस्कार प्रत्येक सवर्णके अन्तःकरण में जम गया है। किसी बालकको यह सिखानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती कि अछूत उससे नीच है। इतना तो वह स्वयं सीख जाता है। इसीलिये जब किसी अशिक्षित सवर्ण हिन्दूके सम्मुख अछूतोंके अधिकारों की चर्चा की जाती है तो वह आश्चर्यमें पड़ जाता है और समझता है कि कहने वाला ईसाइयत से प्रभावित हो कर ऐसा कह रहा है और हमारा धर्म भ्रष्ट करना चाहता है। वस्तुतः धर्मके विकराल बन्धनोंने, जो वस्तुतः धर्मके नहीं, अधर्मके बन्धन हैं, हिन्दू जातिको पङ्गु बना दिया है। उसे उठते बैठते, चलते फिरते, कामका आरम्भ और समाप्ति करते अपशकुनों का भय बना रहता है। खाते पीते, सोते जागते, देवी-देवताओं, भूतों-प्रेतों एवं पिशाचों की शङ्का बनी रहती है। वे शङ्कायें सचमुच उसे भूत, प्रेत और अपशकुन बन कर बाधित करती रहती है। तभी न आज हिन्दु जातिकी यह दुरवस्था है।

अछूतों को भी अपनी अवस्थाका ज्ञान नहीं है। सदियों से इस प्रकारके आचरणों को सहन करते-करते उनके अन्तःकरणमें नीचताका संस्कार जम गया है। वे कभी यह कल्पना भी नहीं करते कि हमें भी मनुष्यों के समान रहनेका अधिकार है। जब उनके सम्मुख उनके अधिकारों की चर्चा की जाती हैं तो वे उसे इस

प्रकार तृष्णाके कानोंसे सुनते हैं जैसे कोई कई दिन भरका भूखा मनुष्य बढ़िया मिठाइयों का थाल देखता है किन्तु अपनेको उसके योग्य न समझ कर निराशासे आंखें नोची कर लेता है। कुछ धार्मिक प्रवृत्ति वाले अछूत तो वक्ताके विरुद्ध सवर्णोंके कण्ठसे कण्ठ लगा यहां तक कह देते हैं कि 'हम आनन्दसे हैं, हमें अधिकार नहीं चाहिये। अरे राम! हम ब्राह्मणोंके बराबर हो सकते हैं?' किन्तु इसमें उनका दोष नहीं है। शताब्दियोंकी दासता और उस पर निर्धनता एवं अविद्याके बोझने उनकी कमर तोड़ दी है। क्या राजनीतिक दृष्टिसे हम उन्हीं अछूतोंके सदृश नहीं हैं?

किन्तु विचारणीय यह है कि ऐसा व्यवहार न्यायानुकूल है या नहीं? हमारे प्राचीन शास्त्रकार तो यह कहते हैं:—

श्रूयतां धर्म-सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अर्थात् धर्मका तत्त्व यही है कि जैसा व्यवहार अपने साथ न चाहे वैसा दूसरोंके साथ न करे। क्या कोई यह चाहता है कि सब उसे नीच समझें? यदि नहीं, तो उसे दूसरोंको नीच समझनेका क्या अधिकार है? यही नहीं, ऐसा करना महान पाप है। देखिये:—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अर्थात् व्यासजीके १८ पुराणोंका निचोड़ यह है कि दूसरों को सताना पाप और सहायता देना पुण्य है। तब स्पष्ट है कि सवर्णोंने

शताब्दियों से अछूतों पर अत्याचार करके पापों का बड़ा संग्रह किया है जिसका भुगतान बिना प्रायश्चित्त किये नहीं हो सकता। गीताकारकी दृष्टिमें तो विद्वान का लक्षण यही है कि:—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

विद्या और विनयके गुण ब्राह्मण, बैल, हाथी, कुत्ता और जंगली शिकारी पशुओं को समान दृष्टिसे देखें। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह इनमें कुछ अन्तर न माने। सबसे एकसा व्यवहार तो किया ही नहीं जा सकता। गुणोंका आदर होना ही चाहिये। किन्तु किसी जाति-विशेष अथवा अवस्था-विशेषके कारण नहीं। इसीलिये कहा गया है:—

गुणाः पूजा-स्थानं गुणिषु न च लिङ्गं नच वयः।

अर्थात् गुण पूजनीय हैं। किसी विशेष चिह्न अर्थात् लाल पीले वस्त्र, तिलक, छाप, जाति या आयुके कारण ही कोई आदरणीय नहीं होता। कितने आश्चर्यकी बात है कि हम अपने पूर्वजों के वचनों का तिरस्कार करते हैं और मूर्खता का भार उतारने के लिये कह देते हैं कि यह पुरातन प्रथा है। भला पूर्वजों का नियम कैसे तोड़ दें?

प्रायः छुआछूतके समर्थक यह कह देते हैं कि अछूत गन्दे रहते हैं, उनमें सभ्यता नहीं, उनके आचार व्यवहार सब भ्रष्ट हैं, इसलिये उनसे सम्पर्क नहीं बढ़ाया जा सकता किन्तु वे यह नहीं सोचते कि

उनकी गन्दगी और आचार-व्यवहारकी भ्रष्टताके प्रति उत्तरदायी कौन है। इसका सारा दोष हम लोगोंके सिर पर ही है जिन्होंने उन्हें साधारण मनुष्योंके अधिकारोंसे भी वञ्चित कर रक्खा है। फिर वे भ्रष्ट क्यों हैं? इसी लिये न, कि वे गन्दगी साफ कर हमें स्वच्छ और पवित्र बनाते हैं। यदि यही उनका पाप है तो इसे दूर करनेमें कौन सी देरी लगती है। किन्तु फिर जब दूसरे दिनसे हमें स्वयं यही काम करना पड़ेगा तो हमारी पवित्रताको कहां शरण मिलेगी?

वेदोंमें कहीं भी शूद्रोंको अछूत नहीं कहा है। मध्य-कालमें जो अछूतों या शूद्रोंको नीचा माननेकी कुप्रथा चल पड़ी उसका कारण उनके प्रति घृणा नहीं था। उस समय जो व्यक्ति अपने वर्णके अनुकूल कर्म न कर भ्रष्टाचरण करते थे, वे समाजसे बहिष्कृत माने जाते थे। यह प्रथा थी तो उत्तम, किन्तु उसमें प्रायश्चितका विधान न होनेसे वह उपयोगी सिद्ध न हुयी। फिर आज किसी जातिको नीच कह देनेसे पूर्व यह भी तो देख लेना चाहिये कि हम जिस जातिको उच्च मान रहे हैं उसके सब व्यक्तियोंका आचरण कहां तक शुद्ध है? यदि महीनों स्नान न करने वाले, निरन्तर मिथ्या भाषण करने वाले, अन्यायोपजीवी, अशिक्षित, असभ्य, मांस-मदिराका सेवन करने वाले ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य निर्द्वन्द्व उच्च वर्णोंके अधिकारोंका उपभोग कर सकते हैं तो अछूत ही उनसे वञ्चित क्यों रहें?

"पूजिय विप्र जो वेद विहीना। शूद्र न पूजिय ज्ञानप्रवीना॥"

का प्रयोग करते समय पहले स्वयं अपनेको न्यायकी तुलापर

लेना आवश्यक है। वस्तुतः परम-पिताकी सन्तानोंमें जन्म-जात ऊंच-नीचका कोई भेद अनुचित है।

अछूतोंके तिरस्कारसे हिन्दुओंकी सर्वतोमुखी हानि है। यह निश्चित है कि अज्ञानवश चाहे कोई मनुष्य अन्यके अनाचारोंको सहन करता रहे किन्तु प्रबोध होने पर वह उसके प्रतीकारका उपाय अवश्य करेगा। यही कारण है कि करोड़ों अछूत ईसाई या मुसलमान बना लिये गये हैं। अन्य धर्म वालोंने उन्हें धनका लालच दिया, उनकी शिक्षाका प्रबन्ध किया, समानाधिकार दिये और इस प्रकार उन्हें सर्वदाके लिये हिन्दू-जातिसे छीन लिया। भारतमें ईसाइयों और मुसलमानोंकी जो जन-संख्या आज कल उपलब्ध है वह विदेशों से आयी हुई नहीं है। इसकी निरन्तर वृद्धि सवर्णोंके अछूतों पर होने वाले परम्परागत अत्याचारोंका ही परिणाम है। कलके गो-रक्षक आज गो-भक्षक हैं। कलके राम-कृष्णोपासक आज उनके निन्दक हैं। वेद, यज्ञोपवीत और शिखा पर श्रद्धा करने वाले उनके भञ्जक हैं। किन्तु सवर्ण फिर भी अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप नहीं करते। गो-भक्षकावस्थामें उनका स्वागत करते हैं। कुओंपर चढ़नेका अधिकार देते हैं। बराबर चारपाई पर बैठाते हैं और 'आप' कह कर सम्बोधित करते हैं।

अछूतोंको पृथक करनेमें राजनीतिक दृष्टिसे भी सवर्ण हिन्दुओं की बड़ी हानि है। अछूतोंके हिन्दुओंमें गिने जाने पर व्यवस्थापिका सभाओंमें उनकी जितनी सीटें हैं वे पृथक माने जाने पर नहीं रह सकतीं। परमेश्वर न करे, अन्यथा यदि पृथक् निर्वाचित अछूत सदस्य

प्रत्येक बातमें सवर्ण हिन्दुओंका विरोध करना प्रारम्भ कर दें तो उनके सम्मुख बड़ी विकट समस्या उपस्थित हो जाय।

अत: धार्मिक, व्यवहारिक एवं राजनीतिक सभी दृष्टियोंसे किसीको अछूत अथवा नीच मानना अनुचित है। धार्मिक दृष्टिसे यह पाप है, व्यवहारिक दृष्टिसे अन्याय है और राजनीतिक दृष्टिसे हानिकर है। अत: समय रहते ऐसी कुभावनाओंको अन्त्येष्टि कर देना चाहिये। सवर्णों द्वारा किये गये शनाब्दियोंके इन पापोंका प्रायश्चित यही है कि वे अछूतोंको यथाशक्ति शिक्षित, सभ्य एवं शुद्ध बनानेका यत्न करें। उनकी आर्थिक अवस्थाकी ओर भी ध्यान दें। साथ ही न किसी पेशेको नीच समझें और न नीच समझनेकी भावना उत्पन्न होने दें।

शुद्धि

मनुष्यका मन अत्यन्त दुर्बल है। कोई भी व्यक्ति यह कहनेका साहस नहीं कर सकता कि मुझसे भूल नहीं हुयी और न होगी। जब जीवका गुण ही अल्पज्ञता है तो वह इससे रहित किस प्रकार हो सकता है ? गीतामें भगवान् कृष्णने अर्जुनसे कहा है:—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।

अर्थात् हे अर्जुन ! विद्वान् मनुष्य सब कुछ उद्योग करता है, तो

भी चञ्चल इन्द्रियां उनके मनको खींच ही लेती हैं। जब विद्वानों का यह हाल है तो साधारण पुरुषोंका तो कहना ही क्या! उनसे पद-पद पर भूलकी सम्भावना रहती है।

भूलें भी एक प्रकारकी नहीं होतीं। कुछ भूलें ऐसी होती हैं जिनका प्रभाव केवल अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक प्रबन्ध पर ही पड़ता है। जैसे यदि कोई भूलसे ५०) रु० खो दे तो उसका दण्ड खोनेवाले या उसके परिवारको ही भोगना पड़ेगा। ऐसी भूलोंसे समाज या राष्ट्रका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। किन्तु कुछ भूलें ऐसी भी होती हैं जिनका सम्बन्ध समाज या राष्ट्रसे होता है। जिन भूलोंका प्रभाव राष्ट्रपर पड़ता है उनके दण्डके लिये राष्ट्र नियम बनाता है। इसी प्रकार जिन भूलोंका प्रभाव समाज पर पड़ता है उनका दण्ड समाज देता है। व्यक्तिगत हानि करनेवाली त्रुटियोंसे मनुष्य बहुत सावधान रहता है क्योंकि उसको तुरन्त दण्ड पानेकी सम्भावना बनी रहती है। राष्ट्र-विरोधी अपराधोंसे भी सतर्क रहना होता है, क्योंकि छल छद्मादिसे कुछ काल तक बच जानेपर भी कभी न कभी दण्डके चक्रमें आना ही पड़ता है। समाज भी समाज-द्रोहियोंके लिये अपनी शक्तिके अनुसार पृथक् २ नियम बनाता है। उनका ठीक ठीक पालन होना या न होना समाजकी संगठन-शक्तिपर निर्भर है।

प्राचीनकालमें आर्य-जातिने भी उच्च, मध्यम एवं नीच श्रेणीके अपराधोंका विभाग कर तदनुकूल दण्डोंका विधान किया था। पापोंका इतना सुन्दर वर्गीकरण और दण्डकी इतनी उपयुक्तता संसारकी

किसी जातिके धार्मिक इतिहासमें दृष्टिगोचर नहीं होती। मनुजीने अनेक पापोंका जिक्र करते हुए उनमें चारको मुख्य माना है:—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह।

अर्थात् विद्वान्की हत्या, मदिरापान, चोरी और पूज्योंकी स्त्रीसे व्यभिचार ये चार महापाप हैं। साथ ही ऐसा करनेवालोंकी सङ्गति भी महा-दूषित है। स्मृतिकारोंने इस प्रकारके अनेक छोटे बड़े पापोंके दण्ड-स्वरूप अनेक प्रकारके प्रायश्चित्तोंका विधान किया है। किसी पापके लिये निश्चित काल तक तीर्थ-सेवन, और किसीके लिये दान, जप, व्रत, उपवासादि की आज्ञा दी। मनुजीने इस प्रकारके प्रायश्चित्तोंका वर्णन करते हुये लिखा है:—

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि।
यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते॥

अर्थात् दूसरों पर प्रकट कर देनेसे, पश्चात्तापसे, तपसे, वेदोंके अध्ययनसे मनुष्य पापसे मुक्ति पा सकता है। यदि संकटमें होनेके कारण यह सब न कर सके तो दान करके ही प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये। जैसे-जैसे मनुष्य पाप करके पश्चात्ताप सहित दूसरों से उसका कथन करता है त्यों-त्यों वह उस पापसे इस प्रकार छूटता जाता है जैसे केचुलीसे सांप।

श्रीमद्भागवत पुराणमें भी लिखा है :—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा
आभीरकंकायवनाः खशादयः ॥
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः ।
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ।

अर्थात् जिस सर्वशक्तिमान परमेश्वरका आश्रय लेकर किरात हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर, कङ्क, यवन, खश इत्यादि अनार्य लोग भी शुद्ध हो जाते हैं उसको नमस्कार है। इससे सिद्ध होता है कि परमेश्वरके भजन या नाम-जपसे इन जातियोंकी शुद्धि मानी जाती थी। महा-निर्वाण-तन्त्रमें भी लिखा है:—

अहो पुण्यतमाः कौलास्तीर्थरूपाः स्वयं प्रिये ।
ये पुनन्त्यात्मसम्बन्धान्म्लेच्छश्वपच-पामरान् ॥
गंगायां पतिताम्भांसि यान्ति गाङ्गेयतां यथा ।
कुलाचारे विशन्तोऽपि सर्वे गच्छन्ति कौलताम् ॥

अर्थात् तान्त्रिक लोग बड़े पुण्यात्मा हैं। इनके सम्बन्धसे म्लेच्छ चाण्डाल और परम-पातकी लोग भी इस प्रकार पवित्र हो जाते हैं जैसे तीर्थवाससे। जैसे गङ्गामें पड़ा हुआ जल पवित्र होकर गङ्गा-जल हो जाता है उसी प्रकार चाहे जैसा पापी हो तान्त्रिकोंमें मिलकर तान्त्रिक हो जाता है। इससे जहां यह सिद्ध होता है कि तान्त्रिक लोग श्वपच और म्लेच्छोंको शुद्ध कर लेते थे वहां यह

भी स्पष्ट होता है कि अन्य लोग तीर्थ-वास, एवं विद्वानोंकी सङ्गति आदि उपायों द्वारा शुद्धि करते थे।

प्रायश्चित और शुद्धि तो नित्य व्यवहार की बातें हैं। हम न जाने स्वयं कितनी बार अशुद्ध होकर नित्य अपने अङ्गोंको शुद्ध करते हैं। फिर कोई भी ऐसा अपराध नहीं है जिससे कभी मुक्ति न मिल सके। यह हो सकता है कि कुछ कर्म ऐसे जघन्य हों जिनका प्रायश्चित्त एक जन्ममें सम्भव न हो किन्तु ऐसे कर्म कितने हैं? प्रायश्चित्तसे कृत-कर्मका फल न भोगना पड़ता हो यह बात नहीं है। क्योंकि:—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

अर्थात् किये हुये कर्मका फल अवश्य भोगना होता है, चाहे वह अच्छा हो या बुरा। प्रायश्चित्त द्वारा तो मनुष्य अपने किये हुये आचरण पर पश्चात्ताप कर भविष्यमें वैसा न करनेकी प्रतिज्ञा करता है। यदि किसी पापीका संस्कार न कर उसे सर्वदाके लिये समाज या राष्ट्रसे निकाल दिया जाय तो उद्धार-उद्धार कदापि नहीं हो सकता। उसके विषयमें यह आवश्यक है कि उसके पतनके कारण ढूंढ निकाले जाय और उसके सम्मुख ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जाय जिससे उसकी प्रवृत्ति ही उस प्रकारके पापाचरणोंकी ओर न हो। ऐसा करनेसे बड़े-बड़े पापियोंका भी सुधार सम्भव है।

आजकल हिन्दू जाति विशृंखल हो गयी है। उसके सामाजिक नियम भी जर्जर हो गये हैं। चोरी, द्युत एवं मिथ्या-भाषणोंका बाजार गर्म है। अनेकों वर्षोंसे राज्य इन अपराधोंके लिये दण्डकी व्यवस्था

कर रहा है। करोड़ों रुपये प्रति वर्ष इन्हीं अपराधोंके शमनार्थ व्यय किये जाते हैं किन्तु क्या अब तक ऐसे अपराधियोंकी संख्या कम हुयी है ? सब लोग जानते हैं कि अमुक व्यक्ति चोर है, मिथ्या-वादी है, लम्पट है किन्तु न्यायालयमें जानेपर वह निर्दोष सिद्ध हो जाता है। समाज उनपर अङ्गुली भी नहीं उठा सकता। हां, समाज तब अवश्य अपनी प्रलय-शक्तिका ज्वालामुखी उगलने लगता है जब कोई मनुष्य किसी विधवाके साथ विवाह करले, किसी अन्य जातिके साथ खा ले या उसको मूर्खतापूर्ण रुढियोंको तोड़ कर उनके स्थानपर किसी उत्तम शास्त्रीय रीतिका व्यवहार करे।

इस समय हिन्दू समाजने अनेक ऐसे भी पाप-कर्म मान रक्खे हैं जिनका उसके विचारसे कोई प्रायश्चित्त नहीं। यद्यपि उन कार्योंके लिये समाजके पास न कोई तर्क है न कारण, तथापि वह पुरानी रुढ़ियोंका पीछा छोड़ना नहीं चाहता। उदाहरणार्थ, यदि कोई मनुष्य मूर्खतासे, लोभसे या कष्टोंके कारण ईसाई, मुसलमान या अन्य कोई धर्म ग्रहण कर ले तो वह हिन्दू समाजमें नहीं लिया जा सकता। एक विधर्मी द्वारा किसी कुएंमें थूक देनेपर उसका जल पीने वाला सारा गांव तो अपवित्र हो सकता है पर घड़ों गङ्गाजल पीनेपर एक भी पुरुषकी शुद्धि नहीं हो सकती। एकबार भूलसे गो-मांस खाकर मुसलमान हो जाना सम्भव है किन्तु फिर सैकड़ों गायोंको रक्षा कर हिन्दू बनना सम्भव नहीं। कैसा सुन्दर न्याय है ?

इन मूर्खताओंके कारण अनेक जातियां धीरे-धीरे विधर्मी बन गयीं। कुछ दुष्कालमें भूखों मरनेपर दो दो टुकड़ों के कारण हमसे

पृथक् हुये। हमने उनके टुकड़ोंका प्रबन्ध न किया। कुछ बलात्कार अथवा बहकावेमें आकर अज्ञानके कारण हिन्दू-धर्मके विरोधी हो गये। कुछ सामाजिक अत्याचारोंसे तंग आकर विधर्मियोंके शरणागत हुये। नौ या दस करोड़ ईसाई और मुसलमानोंमें प्रायः ऐसे ही लोग हैं। जिन लोगोंकी गंगा शतयोजनसे 'गंगा' इतना शब्द कह देने पर सारे पापोंको भस्म करनेकी शक्ति रखती है, वे ऐसे पतित लोगोंके एक पाप की भी शुद्धि न कर सके। नानक, शिवा आदि के उदाहरणोंसे भी लाभ उठानेकी चेष्टा नहीं की गयी जिसका परिणाम 'मियां की जूती मियां के सर' हुआ। मनुजीने भी लिखा है:—

> शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
> वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
> पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
> पारदा पल्हवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥

अर्थात् पौण्ड्रकादि ये सब जातियां पहले क्षत्रिय थीं। धीरे २ सत्कर्मोंका अनुष्ठान एवं उत्तम उपदेशके अभावसे पतित हो गयीं। अतः अब सावधान होकर सामाजिक अपराधों के लिये उचित प्रायश्चितका प्रचलन कर, भूत वर्तमान तथा भविष्यत्के ऐसे पतित लोगोंको शुद्धिके द्वारा समाजमें मिला लेना चाहिये।

अभक्ष्य

भारतवर्ष आचार-प्रधान देश है। इसमें आचारको वहुत महत्व दिया जाता है। मनुजीने कहा है :—

आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त-एव च।

अर्थात् श्रुति एवं स्मृतियोंसे प्रतिपादित आचार ही मुख्य धर्म है। आचारके कई प्रकार हो सकते हैं। आचरणको ही आचार कहते हैं। आजकल व्यवहारमें आचारका अर्थ लोकमें प्रचलित प्रथा लिया जाता है। साधारणतया लोग शुद्धता, स्वच्छतासे भोजन वनाना, करना, समय पर स्नान करना आदिको ही आचार समझते हैं। इस प्रकार आज कल श्रुत्याचार तथा स्मृत्याचारके स्थान पर आचार शब्द मुख्यतया लोकाचारके लिये प्रयुक्त होता है।

हिन्दू-जातिमें खान-पानका वड़ा विचार जाता है। सम्भवतः संसारमें हिन्दू ही खान-पानको इतना महत्व देते हैं। जव किसी स्वयम्पाकीसे कहा जाता है कि आप इतना झंझट क्यों करते हैं? तो वह झट उत्तर देता है 'आचारः परमो धर्मः'। मानो खाना-पीना ही आचार है।

वस्तुतः यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जीवनके आवश्यक पदार्थोंमें भोजनका वहुत वड़ा महत्व है। रक्त, मांस, वीर्य, बुद्धि सवका निर्माण भोजनसे ही होता है। अतः भोजनके विषयमें वहुत सतर्क रहनेकी आवश्यकता है। प्रायः देखा जाता है कि

आजकल नव-शिक्षित लोग भोजन पर बिल्कुल विचार नहीं करते। वे जब जैसा अन्न मिल जाय उसे बिना हाथ-पैर धोये झटपट खाजाने में संकोच नहीं करते। वे भूल जाते हैं कि जैसा भोजन होगा वैसी ही बुद्धि बनेगी। ठीक न पके हुए, रुक्ष, तामसिक भोजनसे कभी शुद्ध बुद्धि नहीं बन सकती।

कुछ लोग शुद्धका अर्थ समझते हैं खूब अच्छी तरह चौका लगा कर, लकड़ियोंको भी छिड़क कर, कपड़े उतार कर स्वयं अपने हाथसे या अपनी जाति वालोंका, जिनसे खान-पानका सम्बन्ध हो, बनाया हुआ भोजन। फिर चाहे उस शुद्ध चौकेमें धुली हुयी लकड़ियोंसे जलतोरई ही क्यों न पकायी गयी हो। इस प्रकारका भोजन कभी लाभकर नहीं हो सकता।

भोजन करनेके पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि जिन पदार्थोंसे भोजन तैयार किया गया है वे कहां तक स्वास्थ्यवर्द्धक हैं। भोजन में किसी प्रकारके मांसादि अथवा तामसिक पदार्थोंका व्यवहार न होना चाहिये। जिस अन्नसे भोजन तैयार किया जाय वह शुद्ध एवं स्वच्छ हो। भोजन बनाने वाला शुद्धता एवं शौचके नियमोंसे अभिज्ञ हो। वह मांसाहारी, मद्यसेवी तथा भ्रष्टाचरण वाला न हो। ऐसे व्यक्तिके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह अपनी जाति अथवा कुटुम्बका ही हो। किसी भी जाति या कुटुम्बका व्यक्ति जो उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त हो, भोजन बना सकता है। और यदि अपने कुटुम्बका व्यक्ति भी इन लक्षणोंसे युक्त न हो तो उसके हाथ का भोजन न करना चाहिये।

बाज़ारमें बिकनेवाला भोजन बहुत समझ-बूझ कर करना चाहिये। दूकानदार प्रायः पैसेके लोभसे सस्ते गन्दे पदार्थोंसे खाद्य पदार्थ तैयार करते हैं। उन्हें दूसरोंके स्वास्थ्यकी चिन्ता नहीं रहती, इस कारण वे किसी न किसी प्रकार सब तरहका माल खपानेकी चेष्टा किया करते हैं। ऐसी वस्तुयें स्वास्थ्य के लिये बहुत हानि-कारक सिद्ध होती हैं। दूसरे हरएक व्यक्तिको एक प्रकारका ही भोजन अनुकूल नहीं पड़ सकता। इस कारण जहां तक हो सके बाज़ारू मिठाई, खोंचोंकी वस्तुओं तथा अन्य इसी प्रकारके खाद्य पदार्थोंसे बचना चाहिये। मनुजीने भक्ष्याभक्ष्यका विचार करते हुए लिखा है :—

अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च।

अर्थात् मलिन स्थानसे उत्पन्न पदार्थोंका उपयोग न करना चाहिये। तथा :—

वर्जयेन्मधु मांसं च।

अनेक प्रकारके मद्य, गांजा, भांग, अफीम, सिगरेट, तम्बाकू, मांस तथा अण्डोंका भी सेवन न करना चाहिये। क्योंकि ये वस्तुयें तामसिक, काम-शक्तिकी उत्तेजक तथा बुद्धिनाशक हैं। इनके सेवनसे शक्ति, सामर्थ्यादि सभीका ह्रास होता है। अतः इनका व्यवहार कभी न करना चाहिये।

भोजन शान्त एकान्त स्थानपर शुद्ध एवं प्रसन्न चित्तसे करना चाहिये। इस प्रकार किया हुआ भोजन शीघ्र पचता तथा स्वास्थ्य प्रदान करता है। भोजनमें कच्चे-पक्केका विचार करना व्यर्थ ढोंग

है। कोई कारण नहीं कि एक व्यक्तिके हाथकी बनी पूड़ियां तो खाई जा सकें, किन्तु रोटियां दूषित हों। इसलिये जिस व्यक्तिके प्रति यह विश्वास हो कि उसने शुद्ध रीति तथा शुद्ध पदार्थोंसे भोजन तैयार किया है, उसका बनाया भोजन करनेमें कोई हानि नहीं। हां, आयुर्वेदकी दृष्टिसे यह विचार अवश्य कर लेना चाहिये कि कौनसी वस्तुयें सात्विक, बुद्धिवर्द्धक एवं बलदायक हैं।

किसीका उच्छिष्ट भोजन कभी न करना चाहिये। न किसीके साथ एक पात्रमें ही भोजन करना चाहिये। मनुजीने कहा है :—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथाऽन्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्नचोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्॥

अर्थात् किसीको जूठा पदार्थ न दे और न किसीके बीचमें स्वयं खाये। न अधिक भोजन करे और न भोजन करके बिना कुल्ला किये कहीं जाय। इसीलिये प्रायः साधारण गृहस्थ किसीको उच्छिष्ट देना पाप समझते हैं। किसीका उच्छिष्ट खाने अथवा किसीके साथ एक पात्रमें भोजन करनेसे उसके रोग दूसरेको भी हो जाते हैं। गुरु और पतिका उच्छिष्ट भोजन करनेका तात्पर्य है उनसे बचा हुआ भोजन करना। अर्थात् उनको भोजन करा कर बचा हुआ भोजन जो जूठा न हो स्वयं करना चाहिये।

इसलिये जो पदार्थ स्वास्थ्य, बल, बुद्धि एवं सत्प्रेरणाओंके जनक है वे भक्ष्य और जो मादक, उत्तेजक, बुद्धि-नाशक एवं स्वास्थ्य-नाशक हैं वे अभक्ष्य हैं। अभक्ष्य पदार्थोंका परित्याग कर भक्ष्य पदार्थोंका ही सेवन करना चाहिये।

आर्य

प्राचीन विद्वानोंने आर्यका लक्षण इस प्रकार किया है :—

कर्तव्य माचरन् कार्यमकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारं स वा आर्य इति स्मृतः ॥

अर्थात् जो कर्तव्यका आचरण तथा अकर्तव्यका त्याग कर ठीक २ व्यवहार करता है उसे आर्य कहते हैं। महाभारतमें भी बतलाया है कि आर्य उसे कहना चाहिये जिसमें त्याग, दया, तप तथा शौचादि आठ गुण विद्यमान हों। इस प्रकार महाभारत-कार ने पूर्वोक्त कर्तव्याकर्तव्यकी व्याख्या भी कर दी है। मनुजीने भी कर्तव्याकर्तव्यका विवेचन करते हुए लिखा है :—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेवच ॥

अर्थात् सब वेद धर्मकी जड़ हैं। वेदोंसे विहित कार्य ही करना चाहिये और निषिद्धका परित्याग कर देना चाहिये। वेदोंके ज्ञाता ऋषियोंकी बनाई हुई स्मृतियोंसे प्रतिपादित बातें भी माननीय हैं। साथ ही उन ऋषियोंके आचरण भी आदर्श हैं। वर्तमान कालके महापुरुषोंके आचरण भी कर्तव्य मार्ग दिखला सकते हैं। इसके अतिरिक्त अपनी अन्तरात्मा जिसे करनेके लिये प्रेरित करे वह कार्य करना चाहिये और जिसके त्यागकी प्रेरणा करे उसे छोड़

देना चाहिये। वस्तुतः सज्जन पुरुषोंकी आन्तरिक प्रेरणा कभी असत्य नहीं होती। कालिदासने कहा है :—

सतां हि सन्देह-पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः।

अर्थात् सन्देहजनक स्थानों पर आत्म-प्रेरणाको ही प्रमाण मानना चाहिये। इस प्रकार कर्तव्यका पालन करने वाला सच्चा आर्य है। वही सच्चा धार्मिक है। इसीलिये वेदोंने संसारको आर्य बनानेका उपदेश दिया है :—

कृण्वन्तो-विश्वमार्यम्।

अर्थात् संसारको आर्य बनाते हुए जीवन यापन करो। दूसरों को आर्य बनानेके लिये पहले स्वयं आर्य बननेकी आवश्यकता है। आर्य कहते ही उसे हैं जिसका अन्य लोग अनुगमन करें। ऐसे महात्माओंको न किसीकी चिन्ता रहती है और न भय। वे स्वतन्त्र, स्वच्छन्द रहते हैं। महर्षि भर्तृहरिने ऐसे व्यक्तियोंको लक्ष्य करके कहा है :—

वाञ्छा सज्जन-संगमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता,
विद्यायां व्यसनं स्वयोषितरतिर्लोकापवादाद्भयम्।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्म-दमने संसर्ग-मुक्तिःखले,
ष्वेतेयेषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः॥

अर्थात् जिन पुरुषोंमें सज्जनोंके संगकी इच्छा, दूसरोंके शुभ गुणोंमें प्रीति, पूज्योंके प्रति नम्रता, विद्यामें अनुराग, अपनी ही

स्त्रोसे प्रेम, लोक निन्दासे भय, ईश्वरमें भक्ति, कुसंगतिसे घृणा ये सब गुण विद्यमान हैं, मैं उन्हें नमस्कार करता हूं। वस्तुतः जिनमें ऐसे गुण विद्यमान हे वे मनुष्य नहीं देव हैं, पूज्य हैं, आदर्श हैं और समाजके नेता हैं। ऐसे महापुरुषोंका संसारने सदा पूजन किया है और करेगा, चाहे वे किसी देश अथवा किसी जातिके क्यों न हों। संसारको ऐसे आर्य पुरुषोंकी सदासे आवश्यकता रही है और रहेगी। परमेश्वर करे सारा विश्व सच्चा आर्य वन जाय।

ईश्वर

"ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसीकी उपासना करनी योग्य है।"

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती।

ईश्वरके प्रश्नको लेकर हिन्दू धर्म-शास्त्रोंमें वहुत विचार हुआ है। हिन्दू धर्म-ग्रन्थोंमें ही क्यों संसारके प्रायः सभी धर्मोंमें ईश्वर पर कुछ न कुछ मीमांसा की गयी है। वैदिक धर्मका तो सारा साहित्य इससे ओत-प्रोत है। वस्तुतः ईश्वर-मीमांसा और ईश्वराधिगमके लिये जितना प्रयत्न आर्यावर्तीय ऋपियों एवं विद्वानोंने किया उतना शायद ही अन्य किसीने किया है। वस्तुतः यही संसारका चरमज्ञेय विपय भी है। यही कारण है कि नास्तिकोंने भी इस विपयके विवेचनमें पर्याप्त शक्तिका व्यय किया और ईश्वरको स्वीकार न करते हुये भी उसकी स्वीकृतिसे वे सर्वथा वच न सके।

मनुष्य ही क्या छोटा वालक भी जव महान् ब्रह्माण्ड, नियमानुगामी सूर्य चन्द्र, असंख्य ताराराशि, नदी, वृक्ष, पर्वत, सृष्टिकी

उत्पत्ति परिवर्तन एवं विनाश-क्रम पर दृष्टि डालता है तो उसके चित्तमें सहसा प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस समस्त दृश्यमान जगतका कर्ता कौन है ? संसारकी छोटीसे छोटी वस्तु भी कर्ता बिना क्रियमाण नहीं दीख पड़ती। समय पाकर, उत्तमसे उत्तम कारण उपस्थित रहने पर भी कार्य नहीं होता। यदि होता भी है तो उसमें अनेक विघ्न पड़ जाते हैं। किन्तु ठीक इसके विपरीत जगतकी कुछ ऐसी भी क्रियायें हैं जिनका किसी मनुष्यसे सम्पर्क नहीं तथापि वे निर्विघ्न रूपसे सम्पादित होती रहती हैं। जड़ पृथ्वी, तेज, वायु, आकाश एवं जल इनके कर्ता हो नहीं सकते क्योंकि इनमें स्वयं क्रिया-शक्ति नहीं है। छोटी या बड़ी कोई जीव-हीन वस्तु स्वयं एक स्थानसे दूसरे स्थान पर नहीं जा सकती। साधारणतया जड़की क्रियामें चैतन्यका अवश्य हाथ रहता है। यदि कोई कहे कि पांचों तत्वोंके आवश्यक मात्रामें संयुक्त हो जानेपर उनमें चेतन शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जैसे, चुम्बकके संयोगसे लोहा क्रियावान् प्रतीत होता है, तब भी यह प्रश्न शेष रह जाता है कि जिस प्रकार लोहा और चुम्बक को समीप करनेवाला कोई चेतन अवश्य है उसी प्रकार उपर्युक्त पांचों तत्वोंको वाञ्छनीय मात्रामें एकत्र करने वाला कौन है ? इसी प्रकार की अनेकों शंकायें उसके मस्तिष्कमें भर जाती हैं और विवश होकर अन्तमें उसे इस निष्कर्षपर पहुंचना पड़ता है कि यह अखिल विश्व न तो स्वयं ही अपना कर्ता है और न मनुष्य द्वारा ही किया गया है क्योंकि मनुष्य-शक्तिकी सीमाका उसे पूर्ण परिचय रहता है। तब उसके पास 'जड़ जगत् एवं चेतन

जीवसे भिन्न कोई तृतीय शक्ति इस सकल ब्रह्माण्डकी परिचालिका है' यह विश्वास करनेके अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं रह जाता। इस प्रकार देखते हैं कि बचपनसे ही मनुष्यका परमेश्वरकी ओर स्वाभाविक झुकाव होता है।

इसके पश्चात् यह जिज्ञासा होती है कि वह परमेश्वर है कैसा? क्या उसके भी मनुष्यकी भांति आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियां हैं? हम लोगोंके समान उसके भी परिवार एवं उत्तम गृह है। क्या वह भी अन्य कर्ताओंके समान अपने बनाये हुये विश्वकी विविध वस्तुओंका उपभोग करता है? साधारण पुरुषकी बुद्धि इन प्रश्नोंके निर्णय तक नहीं पहुंच पाती। इसका ठीक उत्तर तो उन ऋषियोंके मुखसे ही मिल सकता है जिन्होंने अपना सारा जीवन परमेश्वरके चिन्तनमें बिता दिया। देखिये सर्व-प्रथम वेद इस विषयमें क्या बतलाते हैं;—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छा-
श्वतीभ्यः समाभ्यः।

यजु० ॥ अ० ४०। मं० ८

वह ब्रह्म सर्व-व्यापक, सर्वशक्तिमान्, शरीर-हीन, छिद्रादि-रहित नाड़ी इत्यादिके बन्धनमें न आनेवाला, शुद्ध एवं पापसे अस्पृष्ट है। वही पूर्ण विद्वान्, बुद्धिमान, सबमें विद्यमान, स्वयं उत्पन्न

होनेवाला है। उन्हींने अनन्तकालसे इस विश्वको ठीक-ठीक बनाया है।

यह तो हुआ वेदोंका मत, अब उपनिषदोंको देखिये। श्वेताश्वतर उपनिषद् अ० ३। मं० १९ में लिखा है :—

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यंपुरुषं पुराणम्॥

परमेश्वरके हाथ पैर नहीं तथापि वह शक्तिरूप हाथसे सबका ग्रहणकर्ता, व्यापक होनेसे सबसे अधिक वेगवान् है। आंख न होने पर भी सबका द्रष्टा, कानके बिना सबका श्रोता, चित्तके बिना भी सबका ज्ञाता है। उसको पूर्णतया कोई नहीं जानता। वही सबसे प्राचीन पुरुष है। महात्मा तुलसीदासजीने मानो इसी मन्त्रका अनुवाद सरस शब्दोंमें कर दिया है।

बिनु पद चलहि सुनहि बिनु काना,
कर बिन कर्म करहि विधि नाना॥
आनन-रहित सकल रस भोगी,
बिनु वाणी वक्ता बड़ जोगी॥

महर्षि पतञ्जलिने अपने योग शास्त्रमें ईश्वरकी परिभाषा इस प्रकार दी है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः।

यो० द०

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि पांच क्लेशों, तथा कुशल, अकुशल, इष्ट, अनिष्ट और इष्टानिष्ट फलदायक कर्मोंकी वासनासे रहित जो परम आत्मा है उसीका नाम परमेश्वर है।

इन समस्त वैदिक एवं आर्ष वचनोंसे पता चला कि वह परमात्मा सर्वव्यापक, सनातन, अखिल ब्रह्माण्डका कर्ता, शरीरादि रहित, क्लेशादिहीन एवं अजन्मा है। न उसका कोई स्वरूप है और न आकृति। वह सर्व विश्वके कण-कण में भिदा हुआ है।

यों तो गुण भेदसे परमेश्वरके अनेक नाम यत्र-तत्र शास्त्रोंमें आये हैं किन्तु उन अनेक नामोंका भी एक 'ओम्' नाममें अन्तर्भाव हो जानेसे परमेश्वर का यही एक मुख्य नाम है। यह अ, उ और म् इन तीन अक्षरोंसे मिल कर बना है। अ से विराट्, अग्नि और विश्वादि; उ से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि; मकारसे ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामोंका ग्रहण हैं। परमेश्वरके जितने भी नाम हैं वे सब इस एक नामकी व्याख्या-मात्र हैं। माण्डूक्योपनिषद् में लिखा है:—

'ओमित्येदक्षरमिद ँ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्'

अर्थात् इसका नाम 'ओम्' है जो कभी नष्ट नहीं होता। शेष सब उसीकी व्याख्या है। छान्दोग्य उपनिषद्में भी यही कहा हैं:—

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत'।

उसी अक्षर 'ओम्' की उपासना करनी चाहिये।

वही 'ओम्' सब जगत् को बनाने से ब्रह्मा, व्यापक होने से विष्णु, दुष्टोंको रुलाने से रुद्र, सबका कल्याण करने से शिव, कभी नष्ट न होने से अक्षर, अनन्त बलवान् होने से मातरिश्वा, सब प्राणियों का उत्पादन-स्थान होने से भूमि, ज्ञान-स्वरूप व पूज्य होने से अग्नि, आकाशादि पञ्च महाभूतों का वेशन-स्थान होने से विश्व, परमैश्वर्य-वान् होने और अपनी व्याप्तिसे सब का आच्छादन करने के कारण कुबेर आदि अनेकों नामों से पुकारा जाता है। वसु रुद्रादि तेंतीसों कोटि के देवताओं का भी अधिपति होने से उसे देवाधि-देव भी कहते हैं।

बहुत लोगों का विचार है कि जिस प्रकार साधारण लौकिक

---

१ शत पथ ब्राह्मण में देवताओं की तेंतीस कोटियों की व्याख्या इस प्रकार दी है:—

आठ वसु—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र। ये सब सृष्टि के निवास-स्थान होने के कारण वसु कहलाते हैं।

ग्यारह रुद्र—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा ये रुद्र हैं। क्योंकि ये प्राण छोड़ने पर रुलाते हैं।

बारह आदित्य—सम्वत्सर के बारह महीने। ये काल का नियम करते हैं। अतः इनकी आदित्य संज्ञा है।

एक इन्द्र—इन्द्र विद्युत को कहते हैं। जिसके कारण सृष्टि का परम ऐश्वर्य स्थापित है।

एक प्रजापति—प्रजापति यज्ञ को कहते हैं क्योंकि इससे वायु शुद्ध हो कर मेघ बन कर उचित वर्षा होने से अन्नोत्पत्ति द्वारा प्रजाका पालन होता है।

कार्य-कर्ताओं के अधीन कुछ सहायक रहते हैं उसी प्रकार परमेश्वर के नीचे भी कुछ सहकारी हैं। जिनकी कृपा पर मनुष्य की सफलता, असफलता एवं भविष्य वहुत कुछ निर्भर रहता है। उनके पूजन, अर्चन से मनुष्योंको अनेक सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं, उनके मार्ग के वहुतसे विघ्न टल सकते हैं। इस कल्पना के आधार पुराण हैं। पुराणोंके अनुयायी भिन्न-भिन्न कार्यों की सिद्धिके लिये भिन्न-भिन्न देवताओं की पूजा करते हैं। उन्होंने देवताओं के प्रथक्-प्रथक् स्वरूप भी कल्पित कर लिये हैं। जैसे शिवजी के तीन नेत्र, पांच मुख, नग्न शरीर, देह में भस्म, आधे शरीरमें पार्वती, मस्तक पर जटा-जूट और सांप, जटाके गर्त में गंगा का निवास, त्रिशूल, डमरू आदि बाजे, वाहन रूप एक वूढ़ा वैल, भिक्षा-पात्र नर-कपाल, श्मशानमें निवास, पर्वतकी कन्या उनकी स्त्री, दो पुत्र जिनमें एक षडानन और एक हाथीके मुख वाला, स्त्रीका वाहन सिंह उसका रूप विकराल, बड़े पुत्र का वाहन मयूर, छोटे का मूषिक, नन्दी भैरव आदि पहरेदार, भैरव का वाहन कुत्ता आदि। इसी प्रकार अनेक देवोंकी कल्पना की गयी है। यदि इस प्रकारके भिन्न २ देवों के स्वरूपका ही विशद वर्णन किया जाय तो एक बड़ा पोथा तैयार हो सकता है। उन लोगों का यह भी विचार है कि ये देवता कुपित हो कर बड़े-से-बड़ा अनिष्ट भी कर सकते हैं। वेदोंसे लेकर दर्शन-कालके अन्त तकके किसी ग्रन्थमें इस प्रकार का वर्णन दृष्टि-गोचर नहीं होता। पुराणोंमें, जो प्रायः काव्यमयी आलङ्कारिक भाषामें लिखे गये हैं और जिनमें काल दोषसे वहुत ही अनर्गल रचनायें

इधर-उधर से मिला दी गयीं, अवश्य यत्र तत्र ऐसे वर्णन मिलते हैं। पुराणों का अन्वेषण करनेसे उसमें तीन प्रकारके लेख मिलते हैं। प्रथम सीधी भाषामें सत्य शिव तथा सुन्दर रूप में हैं। संसारका कोई भी व्यक्ति उनकी सत्यतासे इनकार नहीं कर सकता। द्वितीय वे जो यदि शाब्दिक रूपमें ग्रहण किये जायं तो उनका अर्थ बिल्कुल ऊटपटांग मालूम होगा किन्तु थोड़ा-सा ध्यान दे कर समझने से उनका तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है। तृतीय वे लेखहैं जो उस जादू की पिटारीके सदृश हैं जिसका आदि, अन्त, मध्य सभी रहस्यमय रहता है। ऐसे लेख भ्रामक, कुरुचिपूर्ण एवं अग्राह्य हैं। किन्तु पुराणों के बहुत से हठ-धर्मी भक्त उनके अनेक तत्त्वों का आशय समझे बिना उनके शब्दार्थ पर अड़ कर उसी को स्थिर सत्य समझ बैठते हैं।

देवोंकी कल्पना भी वस्तुतः अलङ्कार-प्रसूत है। उत्पादन, पालन एवं संहार करने वाली परमेश्वरकी तीन शक्तियां हैं। रुद्र संहार शक्ति का दूसरा नाम है, विष्णु पालन शक्ति का और ब्रह्मा सृजन शक्ति का। जिस प्रकार मनुष्य में दया, घृणा, दान-शीलता आदि अनेक गुण रहते हैं किन्तु वे गुण गुणीसे पृथक् कोई प्राणी नहीं होते उसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, भी परमेश्वरसे पृथक् कोई विलक्षण प्राणी नहीं प्रत्युत परमेश्वर के ही दूसरे नाम हैं। काव्यमें किसी किसी वस्तुका अधिक उत्कृष्ट वर्णन करनेके लिये उसे प्राणिरूप दे दिया जाता है। जैसे निद्राकी उत्कृष्टता दिखानेके लिये हम कहते हैं 'सारा संसार चिर स्मृतियों को मोह की कुक्षि में लीन कर निद्रा देवीकी गोदमें निश्चेष्ट पड़ा था'। किन्तु ऐसा कहते समय हमारा

तात्पर्य यह नहीं रहता कि निद्रा नामकी कोई शरीरधारिणी देवी है। संसार उसकावेटा है, और मोह कोई ऐसा दैत्य हैं जिसने उसकी स्मृतियां खा डाली हैं। यहां वक्ता का तात्पर्य केवल इतना ही है कि मनुष्यों को कुछ स्मरण नहीं। वे गहरी नींद में पड़े हैं। इसी प्रकार रुद्र-शक्ति का वर्णन करते समय यदि कह दिया जाय कि वह व्याघ्र चर्म ओढ़ता और नर मुण्डकी माला पहनता है। श्मशानमें रहता और तृतीय नेत्र खोल कर संसार में प्रलय मचा देता है। तो इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं होना चाहिये कि रुद्र कोई परमेश्वर से भिन्न प्राणधारी है। यहां कविका अभिप्राय रुद्र शक्ति को भयङ्कर रूपमें उपस्थित करने का है। इसके विरुद्ध वेदोंका तिरस्कार कर परमेश्वरके साझेदार मानना, ईश्वरका तिरस्कार करना है। इस प्रकार अनेक देवोंके मानने वाले परमेश्वर के प्रति महान अपराधी है। शोक है कि वेदों का अध्ययन न कर अज्ञता-वश लोगों ने अनन्त देवताओं की कल्पना कर ली। और तो क्या, ग्राम, नगर, कूप, तालाब, वृक्ष, जल, गृह प्रत्येक स्थानके प्रथक्-प्रथक् देवों की कल्पना हो गयी। पूज्यों की संख्या पूजकों से भी अधिक बन गयी। जनता पद-पद पर देवों से भयभीत होने लगी। जिससे उसकी आत्मा निर्बल बन गयी और यही निर्बलता भारत के पतन का कारण बनी।

बहु-देव-वादका फल मूर्ति-पूजन है। प्रथम जिन ३३ देव-ताओंका निरुपण कर आये हैं उन देवोंकी कल्पित आकृतियां बना कर उनपर पत्र, पुष्प, फल आदि भोग्य पदार्थ चढ़ा कर उन्हें प्रसन्न

करनेका चलन भी अनेक देव-वादका ही एक अंग है। इसके समर्थकोंका कहना है कि मनुष्यका मन बड़ा प्रबल है वह सहसा ठहर नहीं सकता। अतः जिस प्रकार कोई लक्ष्य-वेधका अभ्यास करने वाला विद्यार्थी मोटे लक्ष्य पर तीर चला कर अभ्यास करता है फिर ज्यों-२ लक्ष्य स्थिर होता है त्यों-२ सूक्ष्म वस्तुओंसे अभ्यास करता है इसी प्रकार प्रथम स्थूल पदार्थमें ईश्वर-बुद्धि कर उसकी उपासना करते हैं फिर धीरे-२ निराकारकी उपासना करने लगते हैं। यदि उन लोगोंसे कहा जाय कि परमेश्वर तो सर्वव्यापक है उसका छोटेसे पाषाणमें अध्यारोप करना उचित नहीं तो वे झट उत्तर देंगे कि यदि ईश्वर सर्वव्यापक है तो मूर्तिमें भी है तब हम मूर्ति बनाकर ईश्वरकी ही उपासना करते हैं इसमें दोष ही क्या? देखो :—

न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवो तस्माद्भावो हि कारणम्॥

परमेश्वर काष्ठ, पाषाण, पार्थिव-प्रतिमा आदिमें नहीं रहता। वह भावमें है जहां भाव करें वहीं ईश्वर सिद्ध हो सकता है। परन्तु वे यह नहीं सोचते कि ऐसा करना ईश्वरका अपमान करना है। यदि किसी चक्रवर्ती राजासे कहें कि आप कलकत्तेके स्वामी है, तो यह अनुचित होगा इसी प्रकार सर्वव्यापक परमेश्वरको मूर्तिमें सीमित कर लेना अनुचित है। दूसरे मूर्तिमें उसकी कल्पना करते समय, अथवा अन्य किसी वस्तुमें उसका आरोप करते समय यह

अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि शेष संसार उससे शून्य है जो सर्वथा अनुचित है। यदि कोरे भावसे परमेश्वर बद्ध हो जाय तो विषमें अमृत और अमृतमें विषकी भावना करनेसे भी तदनुकूल फल दिखायी पड़े। वस्तुतः जैसे को तैसा मानना भावना है अन्यथा जानना तो विपरीत ज्ञान ही माना जायगा। सच पूछा जाय तो परमेश्वरकी प्रतिमा हो ही नहीं सकती। उसकी मूर्ति-कल्पना असम्भव है, जैसा कि वेदोंमें कहा है :—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते य उ संभूत्या थं रताः॥

यजु० अ० ४०। मं० ९

जो ब्रह्मके स्थानमें अनुत्पन्न कारण रूप प्रकृतिकी उपासना करते हैं वे मानों अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो कार्य रूप पृथिवी आदिकी उपासना करते हैं वे तो और भी दुःख सागरमें डूबते हैं।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।

यजु० अ० ३२। मं० ३।

उस विश्वव्यापी परमेश्वरका परिमाण, सादृश्य एवं मूर्ति नहीं है। यजुर्वेदके चतुर्थ अध्यायके आठवें मन्त्रमें भी परमेश्वरको 'अकाय', 'अव्रण' और 'अनादि' बतलाया है। केनोपनिषद्में भी कहा है कि जो परमेश्वर वाणीका प्रेरक है किन्तु स्वयं वाणीसे पूर्णतया नहीं कहा जा सकता। जिसको 'ऐसा और इतना है' इस प्रकार मनसे नहीं

सोच सकते, हां, वह मनको जानता है। जिसको नेत्रोंसे नहीं देख सकते.हां, जिसकी शक्तिसे नेत्र देखते हैं। जिसको कानसे नहीं सुन सकते, कान जिसकी सहायतासे सुन सकते हैं। जो प्राणोंमें चलायमान नहीं होता, प्राण जिससे चलायमान होते हैं। उसकी उपासना करो अन्य इन इन्द्रियोंके विषय-भूत पदार्थोंकी उपासना मत करो।

इससे विदित होता है कि वेद, शास्त्र मूर्तिपूजनके पक्षमें नहीं है तब ऐसा करना वेद-विरुद्ध एवं समय और शक्ति अपव्यय करना है। साकारमें मन स्थिर नहीं हो सकता क्योंकि वह मूर्तिके अवयवों के चिन्तनमें लग जायगा। निराकारकी उपासनामें यह दोष भी नहीं है।

मूर्तिपूजासे देशकी अनेक हानियां भी हुई हैं और हो रही हैं। इस दरिद्र देशके लाखों रुपये व्यर्थ मन्दिरोंके पंडे-पुजारियों द्वारा विलासादिमें नष्ट होते हैं। अनेक सम्प्रदायोंकी वृद्धिसे पारस्परिक द्वेष-भाव फैलता है। मन्दिरों और मठों द्वारा निष्कर्मण्यता एवं व्यभिचारादिको प्रोत्साहन भी मिलता है। अतः यह प्रथा वेद-विरुद्ध एवं देश और समाजके लिये हानिकारक होनेसे त्याज्य है।

अब प्रश्न उठता है कि हम परमेश्वरकी उपासना किस प्रकार करें। स्तुति, प्रार्थना और उपासना भेदसे ईश्वरकी आराधनाके तीन प्रकार हैं। स्तुति परमेश्वरके गुण-गानका नाम है। प्रार्थना दो प्रकारकी होती है, सगुण और निर्गुण। परमेश्वरको जिस गुणसे युक्त जाने उस गुणसे अपने आपको भी युक्त करनेकी प्रार्थना सगुण

प्रार्थना और जिससे परमेश्वरको पृथक जाने उससे स्वयंको भी पृथक रखनेकी प्रार्थना निगुण प्रार्थना कहलाती है। मनुष्य जिस बातके लिये प्रार्थना करे उसे साधनेका स्वयं उद्योग करे और ऐसी प्रार्थना कभी न करे जो किसीकी अनिष्ट-कारिणी हो। क्योंकि परमेश्वर इस प्रकारकी प्रार्थनाको कदापि स्वीकार नहीं कर सकता।

स्तुति दो प्रकारकी है। एक सगुण दूसरी निर्गुण। 'तू सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है' इस प्रकार गुण-वर्णन-सहित स्तुति सगुण स्तुति कहलाती हैं। और 'तू शरीर रहित है, अजन्मा, विकार-हीन है', इस प्रकारकी स्तुति निर्गुण स्तुति कहलाती है क्योंकि इसमें परमात्माको शरीर जन्म और विकारसे पृथक मानकर स्तुति की गयी है। स्तुति-कर्ताको चाहिये कि वह अपने गुण, कर्म, स्वभाव परमेश्वरके गुण, कर्म, स्वभावकी भांति बनानेका उद्योग करता रहे अन्यथा केवल गुण गानसे कोई भी लाभ नहीं हो सकता। अनेकों व्यक्ति घण्टों राम-राम चिल्लाते हैं। किन्तु उनके मनपर उस स्तुति या जपका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसी स्तुति उनके लिये उपकारिणी सिद्ध नहीं हो सकती। जैसे कोई तोता राम-राम करनेसे रामोपासक नहीं कहलाता उसी प्रकार बिना परमेश्वरका सच्चा ध्यान एवं उसके गुण-ग्रहणके लिये उद्योग किये कोई भी मनुष्य परमात्माका भक्त नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार सर्वज्ञत्वादि गुणोंके साथ परमेश्वरकी उपासना सगुण एवं राग, द्वेष, रूप, रस और गन्धादिसे पृथक मान कर उसमें दृढ़ स्थिति करना निर्गुणोपासना है। उपासनाका अर्थ है

'समीप बैठना' अर्थात् आत्माकी परमात्माके समीप स्थिति। उपासना किसी एकान्तस्थलमें बैठ कर करनी चाहिये। उपासना कालमें मन अत्यन्त संयत एवं परमेश्वरके ध्यानमें मग्न हो जाना चाहिये। इससे उपासकका अन्तःकरण और आत्मा पवित्र होता है और वह क्रमशः परिशुद्ध होता हुआ मुक्ति तक पहुंच जाता है।

कुछ लोगोंकी धारणा है कि स्तुति आदि करनेसे परमेश्वर हमारे बुरे कर्मोंके लिये क्षमा प्रदान कर देता है किन्तु बात यह नहीं हैं। ऐसा करनेसे सृष्टिकी गतिमें बड़ी बाधा पड़ेगी संसारमें स्तुतिके नाम पर महान उपद्रव होने लगें एवं ईश्वर अन्यायी बन जाय। किया हुआ कर्म कुछ न कुछ फल अवश्य उत्पन्न करेगा 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' का नियम अटल है तथापि परमेश्वरकी आराधनासे महान लाभ होता है। स्तुतिसे परमेश्वरमें प्रीति उत्पन्न होती है और मनुष्य ईश्वरके गुण कर्म स्वभावसे अपने गुण कर्म और स्वभावको संभाल सकता है। प्रार्थनासे निरभिमानता एवं उत्साह उत्पन्न होता है और मन कभी निराशनहीं होता। उपासना द्वारा परमेश्वरका साक्षात्कार होता हैं। जिस प्रकार अग्निकी प्राप्तिसे शीतार्त पुरुष शीतसे मुक्त हो जाता है उसी प्रकार परमेश्वरकी उपासनासे मनुष्य सांसारिक बन्धनोंसे छूट कर परम शान्तिको प्राप्त होता है। उपनिषद्में कहा है:—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यते सर्वसंशयः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।

उस परमेश्वरका साक्षात्कार होने पर हृदयकी गांठ खुल जाती है।

सारे सन्देह निवृत्त हो जाते हैं और कर्म-बन्ध क्लेश नहीं पहुंचा सकते। परमेश्वरकी आराधना परम शान्तिदायिनी है। जो पुरुष उसका ध्यान नहीं करता वह अत्यन्त कृतघ्न है। जिसने हमें सभी आवश्यक वस्तुयें प्रदान की हैं उसका ध्यान न करनेसे अधिक कृतघ्नता और क्या हो सकती है।

यहां एक प्रश्न और हो सकता है कि यदि ईश्वर हमारे साधारण अपराधोंको भी अनेक प्रार्थना करने पर क्षमा नहीं कर सकता तो वह दयालु कैसा? और क्षमा कर दे तो वह न्यायकारी नहीं कहा जा सकता। ऐसी शंका प्रायः न्याय और दयाका तात्पर्य न समझनेसे ही होती है। न्याय और दया परस्पर विरोधी पदार्थ नहीं हैं जिससे एककी सत्तामें दूसरेका होना सम्भव न हो। पिता पुत्रको दण्ड देता है तब उसके अपराधोंके प्रति न्याय करता है, किन्तु क्या हमसे यह कहा जा सकता है कि पिताके हृदयमें पुत्रके प्रति दया नहीं है। यदि परमेश्वर न्यायपूर्वक दण्ड न दे तो संसारमें महान अनर्थ होने लगे, किन्तु उस दण्डमें भी दयाका भाव विद्यमान रहता है। वह दण्ड देने पर भी अपराधीका सुधार चाहता अतः वह न्यायशील है और दयालु भी।

कुछ लोग यह कहते हैं कि जबतक भक्तको यह निश्चय नहीं हो जाता कि मेरा उपास्य सदा मेरी सहायताको उपस्थित है, आवश्यकता पड़ने पर वह खम्भेसे निकल कर, खिंचते हुए द्रौपदीके वस्त्रमें प्रवेश कर, रामकृष्णादिकी आकृतिमें स्वयं करवाल हाथमें लेकर सहायतार्थ उपस्थित हो जायगा तब तक उसका मन उपासनामें नहीं

लग सकता। दूसरी बात यह है मन अपने प्रियकी सुन्दरसे सुन्दर कल्पना किया करता है अतः केवल इतना कहनेसे कि वह निराकार है, अजन्मा है, सर्वव्यापक है हमारी वासनाकी तुष्टि नहीं हो सकती। जब हम उसे विपत्तिमें अपने साथ नंगे पैर दौड़ते पायेंगे, अपने समान ही हाथ, पैर, आंख नाक वालेके रूपमें देखेंगे तभी हमारी भावनाको शान्ति मिल सकेगी। ऐसा कहने वाले केवल मनस्तुष्टिके लिये कल्पना-स्वरूप ही नहीं प्रत्युत सिद्धान्ततः यह स्वीकार करते हैं कि आवश्यकता पड़नेपर परमात्मा भी शरीर धारण करता है और मर्त्यलोकमें आकर हम लोगोंकी भांति लीलाकर लोकमें शान्ति प्रतिष्ठित करता है। गीताके ये श्लोक भी इसके प्रमाणमें उपस्थित किये जाते हैं:—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।

हे अर्जुन जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी उन्नति होती है तब-तब मैं सज्जनोंकी रक्षाके लिए, दुष्टोंके विनाशार्थ और फिर धर्मकी स्थापनाके लिये युग-युगमें अवतार लेता हूं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी व्यासजीके स्वरमें स्वर मिलाकर कहा है:—

जब जब होहि धर्मकी हानी—बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
तब तब धरि प्रभु मनुज शरीर—हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।

इसी विचारके लोग, जिनके विचारके आधार विभिन्न पुराण हैं, भगवान्के अनेक अवतार मानते हैं। कुछ कुछ लोग १० अवतार तथा कुछ २४ अवतार स्वीकार करते हैं। मूर्ति-पूजाका भी अवतारों से बहुत कुछ सम्बन्ध है क्योंकि भगवान्की साक्षात् मूर्ति प्राप्त न होनेसे मूर्ति-पूजक प्राय: इन्हीं अवतारोंकी काल्पनिक मूर्तियां बना लेते हैं। अत: यह विचारणीय बात है कि क्या परमेश्वर वास्तवमें अवतार लेता है? क्योंकि बिना परमेश्वरकी अवतार-सिद्धिके उपर्युक्त विचार संगत नहीं माना जा सकता। वेदोंमें ईश्वरको अज, एक-पात्, अकाय और अव्रण आदि विशेषणोंसे सम्बोधित किया है, जिसका तात्पर्य है कि वह कभी उत्पन्न नहीं होता और न शरीर धारण करता है। वेदोंके अतिरिक्त यदि थोड़ा ध्यान देकर विचार किया जाय तो भी ईश्वरका अवतार लेना असंगत प्रतीत होता है। जैसे आकाश सर्वत्र विद्यमान है उसके विषयमें हम यह नहीं कह सकते कि वह घड़े, कमरे या अन्य किसी वस्तुके भीतर बन्द है क्योंकि वह वहां भी है और बाहर भी। उसका आना जाना या किसी विशेष स्थान पर प्रकट होना सम्भव नहीं उसी प्रकार सर्व-व्यापक परमेश्वरका किसीके गर्भमें आना अथवा किसी विशेष स्थान पर रहना संभव नहीं। यदि भगवान् मथुरा और अयोध्यामें रहे तो शेष संसार क्या उनसे शून्य रहेगा। कबीर साहबने क्या सुन्दर कहा है—'जो कासी महं राम बसत हैं और मुलक केहि केरा? और दुष्टोंका नाश करनेके लिये भी उसे अवतार लेनेकी आवश्यकता नहीं क्योंकि सर्व व्यापक होनेसे वह दुष्टोंके शरीरमें भी

विद्यमान है। जिसने इतने विशाल ब्रह्माण्डका निर्माण विना शरीरके कर दिया उसे रावणादिके हननके लिये अवतार धारण करना पड़े, यह कितनी उपहासास्पद बात है! वास्तवमें परमेश्वर नित्य, आनन्दस्वरूप, सर्व व्यापक और अजन्मा है। वह कभी अवतार नहीं लेता। श्रीकृष्ण, श्रीरामचन्द्रजी आदि अपने कालके मर्यादा-पुरुषोत्तम और देशवंश उद्धारक थे। वर्तमान कालके सर्वमान्य महा-पुरुषोंकी ही गणना भविष्यमें अवतारोंके रूपमें होती है। वे हमारे पूज्य आदर्श हैं उनका अनुकरण कर हमें अपना जीवन पवित्र बनाना चाहिये।

———

जीव

हिन्दू धर्म-शास्त्रोंके अनुसार इस असार संसारमें तीन वस्तुयें अनादि हैं ईश्वर जीव और प्रकृति। ईश्वरके विषयमें संक्षेप रूपसे लिखा जा चुका है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। अर्थात् वह सत् (नित्य) है, चित् (चैतन्य शक्ति युक्त) है औरआनन्दस्वरूप (सर्वदा सुखमय) है। जीवमें ये तीन गुण नहीं किन्तु 'प्रथम दो विद्यमान हैं। वह नित्य है। परमेश्वर अनादि है और जीव भी अनादि है। परमेश्वर चैतन्यहै तो जीव भी चेतन्य है। हां, जीव सर्वदा सुखमय नहीं। उसे सुख भी मिलता है और दुःख भी। महर्षि गौतमने अपने न्याय-शास्त्रमें जीवका लक्षण यों दिया है:—

"इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति"

अर्थात् किसी वस्तुको पानेकी अभिलाषा, उसकी पूर्तिमें विघ्न पहुंचाने वाले कारणोंके प्रति घृणा एवं डाह, उसे पानेके लिये उद्योग, उसकी प्राप्तिसे सुख, और वियोगसे क्लेश तथा भले-बुरेकी पहचानके ये जीवात्माके लक्षण हैं। कणाद मुनिने भी जीवात्माके लक्षणोंका वर्णन करते समय लिखा है कि श्वासको बाहर छोड़ना और भीतर ले जाना, आंखें खोलना और बन्द करना, कोई कार्य करनेके लिये निश्चय करना, विगत बातका स्मरण करना, अहंकार अर्थात् मैं हूं

ऐसा अनुभव करना, चलनेकी शक्ति; इन्द्रियोंसे ग्रहण करने की शक्ति, क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोक आदि द्वन्द्वोंका अनुभव करना ये जीवात्माके धर्म हैं। किन्तु परमात्माका वर्णन करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि परमात्मामें ये द्वन्द्व अर्थात् इच्छा द्वेषादिक नहीं रहते। क्योंकि इच्छा उसमें रहती है जिसमें अपूर्णता हो, या जिसे आवश्यकता हो। परमेश्वरमें यदि इच्छा रहेगी तो उसे सर्व-शक्तिमान भी न मान सकेंगे। दूसरे अपनी इच्छा स्वयं ही पूर्ण नहीं की जा सकती। उसकी पूर्तिके लिये अन्य कोई पदार्थ चाहिये। अतः परमेश्वरमें इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादिक कुछ नहीं रहते।

परमेश्वरकी भाँति आत्मा भी निराकार है। उपर्युक्त लक्षणों से ही वह जाना जा सकता है। जब तक जीवात्मा शरीरमें रहता है तभी तक शरीरमें चैतन्य रहता है और ये गुण प्रकाशित रहते हैं। जब आत्मा शरीरको छोड़ देता है तब शरीर मृत हो जाता है। बहुतसे लोग भ्रम-वश शरीरको ही आत्मा मानते रहे हैं। उन्होंने समझा कि जब तक शरीर रहता है तभी तक सब कुछ सम्बन्ध रहता है। मृत्युके बाद न फिर जन्म लेना होता है और न कृत कर्मोंका फल ही भुगतना पड़ता है। उन्होंने लिख दिया:—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिवेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अर्थात् जब तक जिये, आरामसे जिये। अपने पास न हो तो दूसरोंसे लेकर मौज उड़ाये। क्योंकि मरने पर जब शरीर जला

दिया गया तो कौन किसे चुकाता है? उन्होंने यह न सोचा कि इस शरीरमें जो चेतनता है वह इस शरीरकी नहीं है। यदि ऐसा होता तो मरनेके बाद भी वह चेतनता बनी रहती। यद्यपि हम आत्माको देख नहीं सकते तो भी, अन्वय (जिसके रहनेसे कोई वस्तु रहे) और व्यतिरेकि (जिसके न रहनेसे वह वस्तु न रहे) से उसका अनुमान करते हैं। जैसे दीपक अथवा सूर्यके होनेसे प्रकाश होता है और न होनेसे नहीं, इससे हम अनुमान करते हैं कि वह प्रकाश सूर्य अथवा दीपादिका है। वैसे ही आत्माके रहनेसे शरीर में इच्छा द्वेप आदि गुण रहते हैं और न रहनेसे नहीं। इससे सिद्ध होता है कि ये गुण आत्माके ही हैं।

जीव और ईश्वरमें एक महान अन्तर यह भी है कि ईश्वर सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ। ईश्वर प्रकृतिका स्वामी है, जीव नहीं। ईश्वर कर्म-फल देने वाला है और जीव कर्म करने वाला। जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र है किन्तु फल भोगनेमें वह परमेश्वरके अधीन है। इस दृष्टिसे परमेश्वर जीवका भी स्वामी है। उसके कर्मानुकूल ईश्वर उसे जिस योनिमें भेजेगा, जाना पड़ेगा। इसमें उसका कोई वश नहीं है। ईश्वर उसके सभी कर्मोंका दृष्टा है अतः वह उसे कभी अनुचित दण्ड नहीं दे सकता। गीतामें लिखा है:—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

अर्थात् कर्म करनेका तुझे अधिकार है। तू कर्म करनेमें स्वतन्त्र है फल भोगनेमें नहीं। स्वतन्त्रका तात्पर्य है कि शरीर, प्राण,

अन्तःकरण और इन्द्रियाँ उसके अधीन हैं। वह उनका इच्छानुकूल उपयोग कर सकता है। यदि उसे यह अधिकार न हो तो वह दण्ड का भागी भी नहीं बन सकता। जैसे यदि कोई राजा अपने सेनापति अथवा सैनिकोंको किसी दूसरे राजाके विरुद्ध लड़ने भेजे तो उनके जय पराजयका फल राजाको मिलेगा सेनापति और सैनिकों को नहीं। उसी प्रकार यदि जीवात्मा कर्म करनेमें स्वतन्त्र न हो और परमात्माकी आज्ञानुकूल ही कर्म किया करे तो उसके शुभाशुभ कर्मोंका फल परमात्माको मिले, जीवात्माको नहीं।

बहुतसे लोग भूलसे यह कह बैठते हैं कि जब प्रेरणा करने वाला ईश्वर है, उसने ही जीवको पैदा किया, शरीर, इन्द्रियाँ आदि उपभोगकी सामग्रियाँ प्रदान की, इच्छानुसार चाहा उस योनिमें जन्म दिया तब जीवसे यदि उस परिस्थितिमें कोई अनुचित काम बन पड़े तो इसके लिये जीवात्मा उत्तरदायी नहीं। परमात्माने वह परिस्थिति ही क्यों पैदा होने दी। इसका सीधा उत्तर यह है जीवात्माको परमेश्वरने नहीं बनाया। न वह उसे मिटा ही सकता है। वह सदासे है और सदा बना रहेगा। उसको स्वतन्त्रतासे कर्म करनेका अधिकार भी परमेश्वरका दिया हुआ नहीं है। जीव तो अपने कर्मोंके अनुकूल स्वयं भिन्न भिन्न योनियोंमें जाता और सुख दुःख भोगता है। उसकी परिस्थितियाँ भी परमेश्वरकी पैदा की हुयीं नहीं हैं। जीवका स्वभाव कर्म करनेका है और परमेश्वरका तदनुकूल फल देने का। दोनों अपने कर्तव्यका पालन करनेको बाध्य हैं। जिस प्रकार एक पुरुष खानसे लोहा निकालता है, दूसरा उसे साफ करता

है, कारीगर उससे तलवार बनाता है और घातक उसे मोल लेकर उसके द्वारा किसी की हत्या कर डालता है। किन्तु जब न्यायाधीशके सम्मुख यही प्रश्न न्यायार्थ उपस्थित होता है तो वह न लोहा निकालने वालेको दण्ड देता है, और न तलवार बनानेवालेको किन्तु घातकको ही दण्ड देता है। यदि कोई ऐसा न करके सभी व्यक्तियोंको दण्ड दे तो वह सर्वसाधारणके बीच मूर्ख समझा जायगा। क्योंकि लोहा निकालने वाले और तलवार बनाने वालेने तो वैसा करके उपकारका ही कार्य किया। उस तलवारके द्वारा हिंसक अथवा आततायियोंसे आत्मरक्षा की जा सकती थी, दुष्टोंसे सज्जनोंको बचाया जा सकता था, किन्तु वैसा न करके उसका दुरुपयोग करने वाला ही दण्ड-भागी है, इसमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता। उसी प्रकार यदि परमेश्वरने जीवको शरीर दिया तो यह उसकी उदारता थी किन्तु जीवने यदि उसका सदुपयोग न कर उससे दुराचरण किया तो वह अवश्य दण्डभागी माना जायगा। दूसरे यदि परमेश्वरकी प्रेरणासे ही संसारके सारे कर्म होने लगें और वह जीव को कार्य दिशामें अग्रसर करता रहे तो कभी बुरा काम हो ही नहीं सकता। क्योंकि परमेश्वरका स्वभाव ही सत्य एवं धर्म है। इससे सिद्ध होता है कि परमेश्वर जीवके कर्मोंका साक्षीमात्र है।

जीव और परमेश्वरका व्याप्य-व्यापक-भाव सम्बन्ध है। जब दो वस्तुयें एक दूसरेमें रहती हैं तो उनमें जो अधिक देश एवं काल में रहती है उसे व्यापक और जो न्यून देश एवं कालमें रहती है उसे व्याप्य कहते हैं। जैसे आकाशमें घड़ा और घड़ेमें आकाश

रहता है। इनका व्याप्य-व्यापक-भाव सम्बन्ध है। किन्तु इनमें भी आकाश घड़ेमें और घड़ेसे बाहर भी रहता है अतः आकाश व्यापक है और घड़ा, आकाशके बाहरकी कौन कहे, पूरे आकाशमें भी नहीं रहता अतः व्याप्य है। इसी प्रकार ईश्वर जीवोंमें और जीवोंके बाहर भी रहनेसे व्यापक और जीव व्याप्य हैं। जीव शरीरमें परिछिन्न भी है। क्योंकि जो परिछिन्न न होकर सर्वत्र विद्यमान रहता है उसमें आना जाना, मिलना, पृथक होना आदि क्रियायें नहीं रहतीं। जैसे आकाश सर्वत्र विद्यमान है वह न कहीं आता है, न जाता है, न मिलता है और न पृथक होता है। किन्तु जीव में ये सब बातें विद्यमान हैं अतः उसे सर्व-व्यापक नहीं मान सकते। बहुत सी वस्तुओंके विषयमें हम यह भी देखते हैं कि जहाँ एक वस्तु रहती है वहाँ दूसरी नहीं रहती। किन्तु जीव और ईश्वरके विषयमें यह बात नहीं है। क्योंकि यह नियम समान आकार वाले पदार्थोंके विषयमें लागू होता है। जैसे एक स्थान पर रखे हुये लोहेमें दूसरा लोहा नहीं ठूंसा जा सकता किन्तु उसमें अग्निकी उष्णता अवश्य प्रवेश कर सकती है। इसी प्रकार जीवात्माके भीतर भी परमात्मा विद्यमान रहता है।

जिस तरह पहले बतला चुके हैं कि जीव और ईश्वर दोनों भिन्न हैं। जीवमें ईश्वर विद्यमान है। किन्तु इससे दोनोंको एक न समझना चाहिये। आकाशमें वायु विद्यमान है किन्तु आकाश और वायु दोनों एक नहीं। वायुके उष्णतादि गुण ग्रहण कर लेने पर भी आकाश उष्ण नहीं होता। इसी प्रकार ईश्वर जीवमें विद्यमान

रहता है किन्तु जीवके पाप व पुण्य करने पर एवं सुख दुःख भोगने पर भी परमेश्वर उनका भागी नहीं बनता।

कुछ ऐसे लोग हैं जो जीवको ईश्वरसे पृथक नहीं मानते। वे कुछ मन्त्रों और दर्शनोंके सूत्रोंका मनमाना अर्थ करके यह सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं कि जीव अज्ञानसे अपनेको ब्रह्मसे भिन्न मानता है। वस्तुतः वह स्वयं ब्रह्म है। उसे सुख दुःख नहीं होता। न वह किसीको देखता है, न सुनता है, न बोलता है, न सुख दुःख भोगता और न किसी प्रकारकी इच्छा ही करता है। हम जो यह सब कुछ देखते, सुनते या समझते हैं वह सब अज्ञान है। जब अज्ञान दूर हो जाता है तब सब आनन्द ही आनन्द हो जाता है। इस अज्ञानको दूर करनेका उपाय यह है कि जीव यह दृढ़ निश्चय कर ले कि मैं ब्रह्मसे प्रथक नहीं हूँ। किन्तु यह निश्चय सहसा नहीं हो सकता। इसके लिये पूर्व-जन्मका दृढ़ संस्कार चाहिये। वीतराग महात्मा उपदेष्टा चाहिये। पहले अन्तःकरणकी शुद्धि चाहिये। वह शुद्धि भी यों नहीं हो सकती। यज्ञ, हवन, सन्ध्योपासना तथा वैदिक धर्मानुकूल आचरण करनेसे ही अन्तःकरण शुद्ध हो सकता है। और ज्यों ही अन्तःकरण शुद्ध हुआ फिर वेद शास्त्रोंकी कोई आवश्यकता नहीं। फिर तो ज्ञानी उन्हें यों उतार फेंकता है जैसे केंचुलीको साँप। अन्तःकरणकी शुद्धिके साथ ही ज्ञान हो जाता है और ज्ञान होने पर ब्रह्म और जीव एक हो जाते हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं रहता। अतः सर्व-प्रथम आत्म-ज्ञान प्राप्त करनेका उद्योग करना चाहिये। यह श्री स्वामी शंकराचार्यका मत है। और भी उनके

बहुतसे अनुयायियोंने यही बात थोड़ेसे हेर फेरके साथ कही है। किन्तु यह बात किसी वैदिक प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती। कहीं-कहीं ऐसे वाक्य देखनेमें आते हैं जिनपर ध्यान न देनेसे बहुतसे लोग भ्रमवश यह समझ बैठते हैं कि जीव और ईश्वर एक ही है। जैसे उदाहरणके लिये लोग कहते हैं :—

अहं ब्रह्मास्मि।

वे इसका अर्थ करते हैं 'मैं ब्रह्म हूं।' किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है। जब किसी कमरेके लोग शोर करते हैं तो प्रायः कह दिया जाता है कि यह कमरा बहुत शोर कर रहा है किन्तु कमरा तो जड़ वस्तु है। वह शोर नहीं कर सकता। इसलिये हम इसका तात्पर्य समझ लेते हैं कि कमरेके भीतरके लोग शोर कर रहे हैं। उसी प्रकार ब्रह्मका अर्थ ब्रह्मस्थ अर्थात् ब्रह्ममें रहनेवाला है। ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, वह आत्मामें भी है अतः आत्माको यह कहने का अधिकार भी है कि मैं ब्रह्मस्थ हूं। फिर यदि जीव और ब्रह्म एक ही हों तो यह कहा कैसे जा सकता है कि मैं ब्रह्म हूं। जब सारे संसारमें ब्रह्मसे पृथक् कोई चेतन सत्ता है ही नहीं तो यह कौन बतलाता है कि मैं ईश्वर हूं? कोई भी मनुष्य अपना नाम तभी बतलाता है जब कोई दूसरा व्यक्ति जिज्ञासु हो। अकेले बैठकर देवदत्त कभी नहीं कहता कि मैं देवदत्त हूं। इससे तो प्रकट होता है कि वक्ता ब्रह्म नहीं है। क्योंकि यहां सुननेवाला या प्रश्न करनेवाला तो कोई है नहीं।

दूसरे बृहदारण्यकमें एक मन्त्र आया है:—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो
यमात्मा । न वेद यस्यात्मा शरीरम् ॥
आत्मनोऽन्तरोऽयमयति
स त आत्मान्तर्यम्यमृतः ।

यहां याज्ञवल्क्य मुनि अपनी पत्नी मैत्रेयीसे कहते हैं कि हे मैत्रेयि ! 'जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीवमें स्थित और जीवात्मा से पृथक् है । जिसको मूर्ख जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मुझमें व्यापक है । जिस प्रकार शरीरमें जीवात्मा रहता है उसी प्रकार जीवात्मामें परमात्मा रहता है तो भी भिन्नके समान उसके पाप पुण्यों का साक्षी होकर उसके कर्मोंका फल देकर नियममें रखता है । वही कभी न मिटने वाला, तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा तेरे शरीर में व्यापक है, तू उसे जान ।" इस मन्त्रसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैसे देह और जीवात्मा दो भिन्न वस्तुयें हैं वैसे ही जीवात्मा और परमात्मा दो पृथक पदार्थ हैं। इस प्रकारकके अनेकों मंन्त्र वेदों और उपनिषदों में बिखरे पड़े हैं। यदि जीवात्मा और परमात्माको एक भी मान लें, तो प्रश्न उठता है कि—परमात्मा जो इच्छा रहित, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है वह इस सुख दुःख और जन्म-मरणादिके चक्रमें क्यों पड़ने लगा । उसने अनेक प्रकारके कष्टोंमें पड़ना क्यों स्वीकार किया क्योंकि संसारमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक है। यदि कोई कहे कि सुख-दुःख तो

वास्तवमें कुछ नहीं है, यह तो झूठा झमेला है, तो उससे पूछना चाहिये कि ऐसा भी कोई जीव है जिसे कष्ट नहीं होता ? यह तो सम्भव है कि कोई व्यक्ति साधना करते २ इतना ऊंचा उठ जाय कि उसे दुःखादि कष्ट न दे सकें, वह संयम-पूर्वक उन्हें दबा दे किन्तु यह सम्भव नहीं कि उसे उनका बिलकुल अनुभव अथवा बोध हो न हो। इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जीव और ईश्वर दोनों पृथक हैं और उनमें यह अन्तर है :—

१–ईश्वरका कार्य संसारकी रचना, पालन तथा विनाश करना, सब को नियम-बद्ध रखना, जीवोंके पाप-पुण्यका फल देना आदि है किन्तु जीवका कार्य शास्त्रादिसे ज्ञान कर्तव्याकर्तव्यका अनुष्ठान करना है। जैसे; सन्तानोत्पत्ति, उसका पालन, पोषण आदि।

२—ईश्वरके नित्य शुद्ध, बुद्ध आनन्द-स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप, अनन्तता आदि गुण हैं और जीवके इच्छा, द्वेष प्रयत्न, सुख, दुःख आदि गुण हैं।

३—ईश्वर सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ है किन्तु जीव एक-देशीय तथा अल्पज्ञ है।

४—ईश्वर सदा मुक्त-स्वभाव है किन्तु जीव कभी बद्ध और कभी मुक्त होता है।

जीव बद्ध होता हुआ भी परमेश्वरकी उपासना, भक्ति तथा शुभ-कर्मोंके अनुष्ठानसे परमात्माका सामीप्य-लाभ करता है। धीरे-२उसमें परमात्माके गुण आते जाते हैं। और ज्यों-२ वह इस दिशामें आगे बढ़ता है उसकी ज्ञान, शक्ति, प्रभाव आदि सभी शक्तियां बढ़ती जाती

हैं और धीरे-२ वह जीव मुक्त हो जाता है। इसके लिये उसे क्या करना होता है ? कब तक वह मुक्त रहता है ? मुक्ति किसे कहते हैं ? इसका वर्णन मुक्तिके प्रकरणमें किया जायगा।

आवागमन

जीवका वर्णन करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जीव अनेक हैं और उनके सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्नादि स्वभाव-सिद्ध गुण हैं। उन्हें कर्म करना होता है। कर्म करने में वे स्वतन्त्र हैं किन्तु फल पाने में नहीं। सृष्टि अनादि है। नई सृष्टि की रचना करते समय परमेश्वर जीवों को उनके सञ्चित कर्मोंके अनुसार नाना योनियों में जन्म देता हैं। उन योनियों में वे जीव स्वतन्त्रासे कर्म करते हैं और शरीर त्याग के पश्चात् फिर कर्मानुसार अन्य योनियों में जाते हैं। इस प्रकार उनका यह यातायात तब तक लगा रहता है जब तक वे मुक्त नहीं हो जाते। श्रीमद्भागवत गीता में जन्मान्तर का वर्णन बड़े सुन्दर रूपसे किया है:—

> वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
>
> नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
>
> तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
>
> न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नवीन वस्त्र धारण कर लेता है उसी प्रकार जीवात्मा प्राचीन शरीर का परित्याग

कर नवीन देह ग्रहण करता है। इसलिये किसी प्राणी को शरीर छोड़ता देख कर यह कभी न समझ लेना चाहिये कि वह सदा के लिये मर गया। जीवात्मा तो कभी मरता ही नहीं। शरीर में भी मरा क्या ? पृथ्वी, जल, तेज और वायु संयुक्तावस्था से वियुक्तावस्था को प्राप्त हो गये। मृत्यु का अर्थ केवल परिवर्तन है। ऐसा न समझ कर बहुतसे लोगोंने यह भ्रम कर लिया कि एक वार मरने के पश्चात् फिर कोई पैदा नहीं होता। यह सिद्धान्त तर्क की दृष्टिसे तो दूषित था ही, खाओ, पियो और मौज उड़ाओका प्रचार कर संसारका बड़ा अहित भी कर गया। बहुत से धर्मों में इस प्रकार की भावनायें हैं कि मृत्यु के अनन्तर सब जीव अपनी कब्रों में बन्द रहते हैं, जब प्रलय होता है तो वे बाहर निकलते हैं और परमेश्वर द्वारा अपने कर्मों का पुरस्कार एवं दण्ड पाते हैं। इस विचारसे कुछ मजहब मुर्दों को जलाते नहीं गाड़ देते हैं। किन्तु इस विचारों की निर्बलता तुरन्त प्रकट हो जाती है जब हम सोचते हैं कि यदि गड़े मुर्दों को दण्ड मिलेगा तो जलाये हुये मुर्दे कहां जायंगे ? वे तो जल गये। और कब्र में भी कौन सी वस्तु शेष रहती है ? शरीर ? वह तो गल जाता है। आत्मा ? वह अदृश्य है और कब्रके बाहर भी निकल सकता है ? फिर लाखों करोड़ों जीव मरनेसे प्रलयके समय तक व्यर्थ निकम्मे पड़े रहते हैं और परमेश्वर को सृष्टि चलाने के लिये नित्य नये जीवों को गढ़ना पड़ता है।

ऐसे मिथ्या विचार समाजके लिये बड़े घातक हैं। मनुष्य यह सोच कर कि उसे किये कर्मोंका दण्ड पानेके लिये फिर शरीर तो

ग्रहण करना ही न पड़ेगा, अतः वह ऐसे कोई भी कर्म सानन्द कर सकता है जिनका दण्ड उसे इस जन्ममें न मिल सके। क्योंकि:—

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

ऐसा विचार अस्वाभाविक भी है। सब जीव एक श्रेणी के हैं। उसी एक परमेश्वरकी सन्तान हैं। पिता किसीके साथ अनुचित पक्षपात कर नहीं सकता। उस पर भी परमेश्वर जो पक्षपातसे परे है। तब सब जीवोंको समान सुख दुःख होना चाहिये। ऐसा क्यों होता है कि एक बालकको जन्मसे ही समस्त सुविधायें, सुख एवं शान्ति प्राप्त हो जाती है और दूसरेको एक घूंट दूध भी पीनेको नहीं मिलता। एक तो स्वस्थ, सुन्दर एवं सुपुष्ट शरीर पाता है और दूसरा जन्मसे ही रोगी होता है, एक को दूसरेके मुखसे सुनते ही बात याद हो जाती है और दूसरेके लाख याद कराने पर भी याद नहीं होती। जन्मके दस बीस वर्ष बाद यदि ये घटनायें होती तो सम्भव था कि इसके लिये उनकी बुद्धि दोषका कारण होती। किन्तु तब भी यह प्रश्न बना ही रहता है कि उसको कुबुद्धि और दूसरेको सुबुद्धि क्यों मिली। जन्मके समयका यह महान अन्तर तो पूर्व जन्म पर विश्वास करनेके लिये बाध्य कर देता है।

पूर्व जन्ममें दूसरा प्रमाण बालकका स्तनपानमें प्रवृत्त होना है। सभी जानते हैं कि अबोध बालकको कोई दूध पीना नहीं सिखलाता तब यदि उसके अन्तःकरणमें पूर्व जन्मका संस्कार न हो तो वह दुग्धपानमें कैसे प्रवृत्त हो। इस बातसे पूर्व जन्म और ईश्वरीय प्रेरणाका प्रमाण मिलता है।

जब तक जीव सत्व, रज, तम इन तीनों गुणोंसे युक्त कर्म करता है, तब तक वह जन्म लेता रहता है। सत्व-गुण-युक्त कर्म करने वालोंको विद्वान त्यागी महापुरुषोंकी गति मिलती है। रजो-गुणी कर्म करने वाले साधारण मनुष्य-योनिको प्राप्त करते हैं, और इच्छा, द्वेष, राग, क्रोधादिके साथ सुख दुःख दोनोंका भोग करते हैं। जो पुरुष तमो-गुणी कर्म करते हैं वे मनुष्यसे भिन्न पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्षादि नीच योनियोंमें जन्म पाते हैं। इस प्रकार कर्मानुकूल जन्म एवं सुख दुःखकी प्राप्ति होती है। मनुजीने लिखा है :—

देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥

अर्थात् सात्विक पुरुष देवत्वको पाते हैं। रजो-गुणी मनुष्य मनुष्य योनिमें ही रहते हैं। और तामसी प्रकृति वाले तिर्यक् अर्थात् पशु, पक्षी आदिकी योनिको प्राप्त करते हैं।

कर्म भी तीन प्रकारके होते हैं। सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण। सञ्चित कर्म वे होते हैं जिनका संग्रह पूर्व जन्मों द्वारा किया हुआ होता है। ऐसे कर्म एकत्रित रहते हैं। समय समय पर भिन्न २ योनियोंमें उनका फल भोगना पड़ता है। प्रारब्ध कर्म वे होते हैं जिन्हें जीव इस योनिमें भोगता है। इस जीवनमें भोगी जाने वाली विपत्तियाँ, हर्ष, उन्नति, अवनति आदि प्रारब्धके परिणाम होते हैं। क्रियमाण कर्म वे कहलाते हैं जो इस जीवनमें किये जाते हैं और

जो भविष्यमें चलकर प्रारब्धका रूप धारण कर लेते हैं। इनमेंसे प्रथम दोनों पर मनुष्यका मनुष्यका अधिकार नहीं किन्तु क्रियमाण पर उसका अधिकार है। वह जिस ओर चाहे अपनेको लगा सकता है और अपना प्रारब्ध उज्वल बना सकता है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कर्म-योनि केवल मनुष्यकी ही है। अन्य सब भोग योनियाँ हैं। पशु पक्षी आदिकी योनियोंमें कर्म करनेका उतना ज्ञान नहीं रहता जितना मनुष्य-योनिमें। इसी प्रकार वृक्षादि योनियोंमें और भी कम कर्म-ज्ञान रहता है। इन योनियोंमें पूर्व-कृत पापोंका फल भोग कर जीव जब फिर मनुष्य योनिमें आता है जहां उसे ज्ञान और विवेककी वृद्धिके साधन मिलते हैं जिससे वह उचितानुचितका विचार कर तदनुकूल आचरण कर सके। वस्तुतः मनुष्य और पशु पक्षियोंके शरीरस्थ जीवोंमें जाति-भेद नहीं। उनमें अन्तर केवल इतना ही है कि प्रथम तो पुण्य कर्मोंके कारण पवित्र और द्वितीय पापाचरणके कारण मलिन एवं प्रतिभाहीन रहता है। जब मनुष्य पापाचरण अधिक और सदाचरण कम करता है तो उसे मनुष्येतर योनियोंमें जाना होता है। इसी प्रकार प्रत्येक शरीरधारी योनि परिवर्तन कर उत्तम या निकृष्ट योनिको प्राप्त करता है।

पुनर्जन्म पर विचार करते समय विद्याके महत्वको कदापि न भूलना चाहिये। विद्यासे मनुष्यकी बुद्धिका विकास होता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक विद्वान होगा उतनी ही अधिक उसकी बुद्धि विकसित होगी। और बुद्धिका विकास मनुष्य-योनि पानेका अत्युत्तम साधन है। इसके विपरीत जिनमें विचार शक्ति बहुत कम

है। स्वाध्याय द्वारा जिन्होंने अपने मस्तिष्कका विकास नहीं किया है उनके नीची योनिमें जानेकी अधिक सम्भावना है। इसी प्रकार स्त्रियोंके आचरण करता हुआ मनुष्य स्त्री-योनिको और पुरुषोंकेसे आचरण करती हुयी स्त्री पुरुष-योनिको प्राप्त होती है।

जीवात्माके चार शरीर होते हैं। (१) स्थूल (२) सूक्ष्म (३) करण (४) तुरीय सांसिद्धिक। (१) स्थूल शरीरमें पांचों भूत तथा ११ इन्द्रियां स्थूल रूपमें रहती हैं। जब इस शरीरसे जीवका संयोग होता है तो उसे जन्म कहते हैं और जब वियोग होता है उसे मृत्यु कहते हैं। स्थूल शरीर हम लोगोंका है। (२) सूक्ष्म शरीर जैसा उसके नामसे स्पष्ट है सूक्ष्म रूपसे मृत्युके पश्चात् शेष रहता है। इसमें पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच सूक्ष्म भूत, मन और बुद्धिको मिलाकर कुल १७ तत्व होते हैं। स्थूल शरीर को छोड़ देनेके बाद जीव इसी शरीरसे वायुमें रहता है और अपनी मरण समयकी तीव्र वासनाके अनुसार जहां चाहता है जाता है। फिर कुछ समयके पश्चात् परमात्मा उसे उसके कर्मानुसार जन्म देता है, तब वह फिर इस शरीरके स्थान पर स्थूल रूप धारण कर लेता है। (३) कारण शरीर उस शरीरको कहते हैं जिसमें जीव सुषुप्ति-दशामें रहता है। यह शरीर सब जीवोंका एकसा होता है। (४) तुरीय शरीर वह होता है, जिसके द्वारा जीव समाधिमें परमात्माके आनन्द-स्वरूपका अनुभव करता है और स्वयं ब्रह्मानन्दका भोग करता है। जीवन्मुक्त सिद्ध पुरुष इस जन्ममें में भी इसी शरीरके द्वारा आनन्दका उपभोग करता है। असत्क-

र्मोंका परित्याग कर शुद्ध एवं दिव्य कर्मों द्वारा मनुष्य अपने भीतर उक्त शरीरकी अवस्थाका विकाश करता है और जन्म-मरणके बन्धनसे छूट कर मुक्ति-लाभ करता है। इस शरीरसे जीवात्मा जिस प्रकार, जिस रसका अनुभव करना चाहता है तुरन्त कर लेता है। उस आनन्दको हम शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं कर सकते।

पुनर्जन्मके विषयमें एक शंका स्वाभाविक रूपसे हो सकती है कि यदि मनुष्य बार २ जन्म लेता है तो उसे पूर्व जन्मका स्मरण क्यों नहीं रहता। किन्तु इस शंकाके साथ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य त्रिकाल-दर्शी नहीं है। भूतके विषयमें वह बहुत थोड़ा जानता है। अन्योंकी बात तो जाने दीजिये उसे अपने सम्बन्धकी, स्वयं की हुयी बातों तकका स्मरण नहीं रहता। यह कोई नहीं बतला सकता कि आजसे १५ वर्ष पूर्व अमुक दिनके अमुक क्षण पर उसके अन्तःकरणमें कौन-कौनसे विचार उठ रहे थे, उसके पेटकी क्या अवस्था थी। पन्द्रह वर्ष भी जाने दीजिये वह यह भी नहीं बतला सकता कि कल दिनके ११ बज कर ४४ मिनट और ५० सेकेण्ड पर वह क्या सोच रहा था। वर्तमानका भी उसका ज्ञान बहुत अल्प है। वह यही नहीं बतला सकता कि उससे ५० गजकी दूरी पर क्या हो रहा है। भविष्य तो और भी अन्धकार-मय है! तब यदि उसे पूर्व जन्मकी बातोंका स्मरण न रहे तो कौनसी बड़ी बात है। बहुतसे लोग यह सोचते होंगे कि परमेश्वरने मनुष्यको विस्मृतिशील बना कर बड़ी भूल की। क्या ही अच्छा

होता यदि बीती हुयी बातोंका स्मरण रहता! अनेक विवादास्पद विषय स्वयं ही सुलझ जाते। यह प्रश्न उसी प्रकारका है जैसे कोई कहे कि परमेश्वरने जीवनके साथ मृत्यु बना कर कैसा मूर्खता पूर्ण कार्य किया। सच तो यह है कि उसने हमें विस्मृति-शील बना कर बड़ा ही उपकार किया है। मान लीजिये सभी लोगोंको पूर्व जन्म की बातें याद रहने लगें तो क्या हो? सभी लोग दौड़-दौड़ कर अपनी स्त्री और पुत्रके पास पुराने गृहमें जा धमकें। बालककी जगह फिर बाबा बननेकी चेष्टा करने लगें और सृष्टिमें एक महान कुतूहलमय मनोरञ्जक दृश्य उपस्थित हो जावे। अनेक नव-जात बालक पूर्व-जन्मके विरोधियोंका सिर फोड़ने दौड़ पड़े, अनेकों गत-जीवनके हताश जन फिर कुढ़-कुढ़ कर जान देने लगें। जिस चिन्ता और थकानको दूर करनेके लिये उन्हें एक घर छोड़ कर दूसरा घर बसाने भेजा गया था, एक चोला उतार कर दूसरा चोला पहनाया गया था, वह तो ज्योंकी त्यों बनी रहे। परमेश्वर करे ऐसी स्मृति जीवोंको कभी न मिले।

यह भी न सोचना चाहिये कि जब परमेश्वर जगत्का स्वामी है तो उसे अधिकार है कि जिसे जो योनि चाहे प्रदान करे। जीव सदा उसी योनिमें रह कर अपने-अपने कर्मोंके अनुसार सुख दुःख भोगते रहें। जिस प्रकार माली जिस पौधेको उचित समझता है लगाता है, जिसे चाहता है काटता है, छांटता है और इच्छानुसार उखाड़ कर भी फेंक देता है, उसी प्रकार परमेश्वर भी कर सकता है। क्योंकि माली और परमेश्वरमें बड़ा अन्तर है। मालीके उस

कृत्यमें कहां तक न्याय है, उसकी दृष्टिमें कहां तक विवेचना-शक्ति है, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते। माली न्याय-स्थापन करनेके लिये नियुक्त भी नहीं किया गया। मालीको वैसा करने की स्वतन्त्रता भी है। किन्तु ईश्वर न्यायशील है। वह अपनी इच्छासे ऐसा कार्य कदापि नहीं कर सकता जो न्यायकी तुला पर चौकस न उतरे। वह स्वयं अपने नियमोंसे बंधा है। जीवोंके कर्मानुकूल उन्हें भिन्न योनियोंमें भेजना उसका स्वाभाविक कर्म है। वह इससे विरत नहीं हो सकता। न्याय ही उसकी इच्छा है और उसकी इच्छा ही न्याय है।

तब यह निश्चय है कि जीव लाख प्रयत्न करने पर भी अपनी इच्छासे विभिन्न योनियोंमें जानेसे बच नहीं सकता। हां, जब उसके कर्म इतने उज्ज्वल हो जायंगे कि उन पर रज और तमका आवरण नहीं ठहर सकेगा, तब उसका स्वरूप उज्ज्वल हो जायगा, उसमें विलक्षण शक्तिका प्रकाश होगा। उसे चारों ओर एक विलक्षण जीवनका अनुभव होगा। वह उसकी परमावस्था होगी। तब उसको महान कालके लिये जन्म-मरणसे विराम मिलेगा।

आवागमन वैदिक सिद्धान्तोंमें विशेष महत्त्व रखता है। इसके कारण लोक अनेक अनाचारोंसे सुरक्षित रहता है। अन्यथा भौतिक वादके झञ्झावातमें उसकी सत्ता डगमगाने लगे।

स्वर्ग, नरक और मुक्ति

संसारमें जो अच्छे बुरे अनेक प्रकारके कर्म दीख पड़ते हैं उनका विस्तार बहुत बड़ा होता है। उनका फल इस छोटे जीवनमें मिल सकना असम्भव है। अतः उनका क्रम जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है। मनुष्यको पूर्व-कर्मानुसार प्रत्येक जन्मका कुछ भाग स्वर्ग और कुछ भाग नरकमें व्यतीत करना पड़ता है। ये स्वर्ग और नरक भूलोकके समान कोई पृथक लोक नहीं, जैसा कि बहुतसे लोग समझते हैं। वस्तुतः जिस स्वर्गका वर्णन हम पुराणादिक ग्रन्थों और उनके आधार पर लिखी गयी अन्य पुस्तकोंमें पढ़ते हैं, वह काल्पनिक है। बात यह है, कि मनुष्यको जीवनमें अपने कुकर्मोंके कारण बहुतसे कष्ट भी भोगने पड़ते हैं, कार्यकी सिद्धिके लिये अथक श्रम करना होता है, श्रमके पश्चात् या तो उद्देश्यकी प्राप्ति नहीं होती अथवा यदि होती है तो उससे फिर वियोग हो जाता है। बहुतसी अवस्थायें ऐसी भी आती हैं जब मनुष्यका मन इस लोकसे ऊब जाता है और तब वह किसी ऐसे मधुर स्थानकी कल्पना करने लगता है जहां उसे इन समस्त सांसारिक कष्टोंसे विराम मिल सके। इसी भावनाको लेकर लोगोंने एक ऐसे लोककी सृष्टि कर डाली जहां केवल देवता और उनकी अप्सरायें ही रहती हैं। वे देवता कभी वृद्ध नहीं होते और

न कभी मरते हैं। वहां कल्पवृक्ष है। उससे जो वस्तु मांगो, मिल सकती हैं। तात्पर्य यह कि इसी प्रकारकी बहुतसी बातें गढ़ ली गयीं। चूंकि मनोविज्ञानकी दृष्टिसे सभी देशों और धर्मानुयायियोंमें इस कल्पनाका होना स्वाभाविक था, अतः लगभग सभी धर्मोंने पृथिवी से ऊपर किसी अन्य लोकमें स्वर्ग माना। किन्तु इसका निर्माण सभी धर्मोंने अपनी २ स्वतन्त्र रुचिके अनुसार किया। किसीको मदिरासे प्रेम था तो उसने कल्पना की कि स्वर्गमें मदिरा खूब मिलती है। किसीको गान-वाद्यका व्यसन हुआ तो उसने यह मान लिया कि स्वर्गमें किन्नर-गन्धर्व आदि अनेक अलौकिक-गायन-पटु जातियां रहती हैं। इस प्रकार अनेक गन्दी-गन्दी कल्पनायें भी कर ली गयीं। किन्तु कल्पना फिर भी कल्पना होती है और कभी-कभी वह हानिकारक भी सिद्ध हो जाती है। चन्द्र-लोक या नक्षत्र-लोकोंमें निवास करने वाले जीव सर्वदा सुखमय ही नहीं रहते। सुख दुःख दोनों जीवके धर्म हैं। समयानुसार उसे दोनों भोगने होते हैं, जिसमें सुख भोगनेकी अवस्था स्वर्ग और दुःख भोगकी दशाको नरक कहते हैं।

स्वर्ग भी दो प्रकारका होता है। एक सामान्य, दूसरा विशेष। सामान्य स्वर्गमें जीव सांसारिक सुख भोगता है। उसमें उसे चिन्ता, भय बना रहता है। वह चिरस्थायी भी नहीं होता। विशेष स्वर्गमें परमात्माकी अनुभूतिका सुख भोगना होता है। इस सुखमें किसी प्रकारका भय अथवा चिन्ता नहीं होती। यह चिर-स्थायी और सामान्य सुखसे अधिक आनन्ददायक भी होता है।

मुक्तिका अर्थ है छूट जाना। अर्थात् सांसारिक क्लेशों और जन्म-मरणके चक्रसे छूट जानेको मुक्ति कहते हैं। न्यायदर्शन में लिखा है कि दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञानको धीरे-धीरे कम करनेसे जब उनका पूर्णतया अन्त हो जाता है तभी मोक्ष होता है। इसका तात्पर्य यह है कि मोक्ष किसीको एक या दो जीवनोंमें ही नहीं मिल जाता। अनेकों जन्मों तक सत्य के ग्रहण और असत्य के त्यागका अभ्यास करते-करते जब जीवका हृदय स्वच्छ निर्झरकी भांति निखर जाता है और उसके सारे संशय दूर हो जाते हैं तभी उसको परमात्माकी शुद्ध अनुभूति होती है; और शुद्ध अनुभूतिके साथ ही मोक्ष हो जाता है। मुण्डकोपनिषद्में लिखा है:—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

अर्थात् जब इस जीवके हृदयकी अविद्या या अज्ञानकी गांठ खुल जाती है, तत्वज्ञानसे सारे सन्देह दूर हो जाते हैं, तथा जितने दुष्कर्म हैं उनका नाश हो जाता है जब उसे सर्व-व्यापक परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। उस समय जीव स्वतन्त्र होकर परमात्मामें वास करता है और इच्छानुसार जिस प्रकारके आनन्द का अनुभव करना चाहता है, कर लेता है। उस समयः—

शृण्वन्श्रोत्रंभवति, स्पर्शयन्त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयंश्चित्तं भवत्यहङ्कुर्वाणोऽहंकारोभवति

शतपथ। काण्ड १४।

जीवात्माके साथ भौतिक शरीर या इन्द्रियां नहीं रहतीं किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। वह जब सुनना चाहता है तो कान, स्पर्शकरना चाहता है तो त्वचा, देखना चाहता है तो नेत्र, स्वाद लेना चाहता है तो जिह्वा, सूंघना चाहता है तो नाक, विचार करना चाहता है तो मन, कुछ जानना चाहता है तो बुद्धि, स्मरण करना चाहता है तो चित्त और मैं हूं इस भावके लिये अहङ्कार आदिसे उसी प्रकार आनन्द ले लेता है जिस प्रकार भौतिक शरीर एवं इन्द्रियोंसे। अन्तर इतना है कि भौतिक इन्द्रियां कभी-कभी अपना कार्य करनेमें असफल हो जाती हैं किन्तु आत्माकी ये सांकल्पिक इन्द्रियां कभी विफल नहीं हो सकतीं। किन्तु यह अवस्था साधारण नहीं है। इसकी प्राप्तिके जो हेतु प्रथम अनेक कठिन साधनोंके मध्य होकर गुजरना पड़ता है। स्वामी दयानन्द-सरस्वतीने अपने सत्यार्थप्रकाशमें लिखा है कि परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनोंसे अलग रहने और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपात-रहित न्याय-धर्मकी वृद्धि करने, परमेश्वरकी स्तुति-प्रार्थनोपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने पढ़ाने, और धर्मसे पुरुषार्थ कर ज्ञानकी उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनोंके अनुष्ठानसे मुक्ति और इसके विपरीत ईश्वराज्ञा भङ्ग करने आदिसे बन्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद्में भी लिखा है कि जो परमात्मा जरामरणादि द्वन्द्वोंसे परे, सत्यकाम एवं सत्य-संकल्प है उसकी खोज और उसीको जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। उस परमात्माके सम्बन्धसे मुक्त जीव सब

लोकों और सब इच्छाओंकी प्राप्ति करता है। जो जीव परमात्माको जानकर अपनेको शुद्ध करना चाहता है वह मुक्तिको प्राप्त होकर शुद्ध दिव्य नेत्रों एवं शुद्ध मनसे कामोंको देखता और प्राप्त करता हुआ रमण करता है। जिन-जिन लोकों तथा इच्छाओंकी पूर्तिका संकल्प करता है वे लोक तथा काम उन्हें प्राप्त होते हैं। और वे मुक्त जीव स्थूल शरीर छोड़कर सङ्कल्पमय शरीरसे आकाशमें परमेश्वरमें विचरता है। क्योंकि जो शरीर-धारी हैं वह कभी कष्टोंसे रहित नहीं हो सकता। जैसे इन्द्रसे प्रजापतिने कहा है कि हे परम-पूजित धन-युक्त पुरुष ! यह स्थूल शरीर अवश्य नष्ट होता है। यह सर्वदा इस प्रकार मृत्युके मुखमें रहता है जैसे सिंहके मुखमें बकरी। शरीर तो मरणधर्मा एवं जीवात्माका निवास-स्थान है। इसमें जीव सदा सुख दुःखसे ग्रस्त रहता है क्योंकि इससे सुखकी निवृत्ति किसी न किसी समय अवश्य होती है। और जो शरीर रहित जीवात्मा ब्रह्ममें रहता है उसको सांसारिक सुख दुःखका स्पर्श भी नहीं होता। वह सदा आनन्दमें रहता है। इसीलिये योग दर्शनमें:—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पांच क्लेशोंका वर्णन कर लिखा है:—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।

अर्थात् उनसे पूर्णतया छूट जाना ही मोक्ष है। यहां पूर्णतयाका

तात्पर्य है कि इनका लेशमात्र स्पर्श न होना। कपिलमुनिने इसीको परम-पुरुपार्थ माना है। उन्होंने योगदर्शनमें लिखा है:—

अथ त्रिविधदुखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।

अर्थात् मनुष्यको तीन प्रकारके क्लेश होते हैं (१) आध्यात्मिक दुःख अर्थात् वे शरीर सम्बन्धी क्लेश जो स्वयं अपने ही शरीरसे होते हैं। (२) अधिभौतिक दुःख, जो बाहरसे दूसरे प्राणियों द्वारा प्राप्त होते हैं (३) आधिदैविक, जो दैविक कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। इनमें अतिवृष्टि, अनावृष्टि अतिशीत या अति-गर्मी आदि हैं। इनके कारण जीवको बहुत क्लेश होता है। अतः इनसे पूर्णतया छुटकारा पा जाना सबसे बड़ा पुरुपार्थ है। श्रीमद्भग-वद्गीतामें (अभय) अर्थात् धर्मके कार्योंमें किसीसे न डरना, सत्व संशुद्धि) जीवनको शुद्ध मार्गसे हटने न देना, (ज्ञानयोग-व्यस्थिति) परमात्मा और सृष्टिका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना, (दान) सात्विक-दान, (दम) मनको दबाये रखना, (यज्ञ) लोक-कल्याणकारी कर्मोंका अनुष्ठान करना, (स्वाध्याय) धर्म-ग्रन्थोंका अध्ययन करना (तप) परार्थ कष्ट सहन करना, (आर्जव) छलछिद्र रहित सरल-तासे व्यवहार करना, (अहिंसा) किसी प्राणीको कष्ट न पहुंचाना (सत्य) मिथ्या-भाषण न करना, (अक्रोध) क्रोधहीन रहना, (त्याग) किसी भी वस्तुको परमार्थमें लगानेसे न हिचकना, (शान्ति) सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे विचलित न होना, (अपैशुन्य) व्यर्थ निन्दास्तुतिसे पृथक् रहना, (भूतदया) सब प्राणियोंपर कृपा-

दृष्टि रखना (अलोलुपता) लालचमें न पड़ना, (मार्दव) सरल स्वभाव रखना, (ह्री) लज्जा, मर्यादाका ध्यान रखना, (अचपलता) दृढ़ विचार रखना, (तेज) पाप-दमनकी शक्ति रखना (क्षमा) दूसरोंके अपने पर किये अपराधोंको सहन करना, (धृति) कष्टसे न घबड़ाना (शौच) भीतर बाहरसे पवित्र रहना; (अद्रोह) किसीसे वैर न बांधना; (अनभिमानता) घमण्ड न करना, ये छब्बीस दैवी सम्पत्तियां और दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता, एवं अज्ञान ये छः आसुरी सम्पत्तियां बतलायी हैं। इनमें दैवी सम्पत्तियां ग्राह्य और आसुरी त्याज्य हैं क्योंकि :—

दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

अर्थात् दैवी सम्पत्ति मोक्षका और आसुरी सम्पत्ति बन्धनका कारण है। इस दैवी-सम्पद्से जो सम्पत्तिवान् है उसका शरीर चाहे रहे चाहे छूट जाय वह दोनों ही अवस्थाओंमें ब्रह्मानन्दमें मग्न रहता है । इसीका नाम परम-गति है।

बहुत-से दार्शनिकोंका ऐसा विश्वास है कि मुक्तिके पश्चात् जीव ब्रह्ममें इस प्रकार मिल जाता है जैसे प्रकाश दूसरे प्रकाशमें। बीचमें पर्दा होनेके कारण वे दोनों नहीं मिल पाते किन्तु पर्दा हटते ही दोनों एक हो जाते हैं। यह पर्दा माया अर्थात् अज्ञानका है। इसलिये कहा गया है 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' अर्थात् बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं। ऐसे लोग ब्रह्म-ज्ञानके अतिरिक्त और सबको अज्ञान मानते हैं। उनके मतसे जीव ब्रह्मसे कोई भिन्न वस्तु नहीं। कबीरजीने इसी भावना को यों व्यक्त किया है :—

जलमें कुम्भ कुम्भमें जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना यहु तत कथहु गियानी॥

यह कुम्भ माया है जो जलको जलसे विलग करता है। इस मतमें जीवकी कोई सत्ता नहीं रहती। न संसार और संसारका दुःख ही कोई अस्तित्व रखता है। न मुक्तिका उद्देश्य ही आनन्द-प्राप्ति रहता है। इस पर पर्याप्त विचार किया जा चुका है। संक्षेपमें ऐसी मुक्ति निरर्थक सिद्ध होती है।

कुछ लोगोंका ऐसा भी मत है कि मुक्तिके बाद जीव परमेश्वरमें मिल जाता है। वह सर्वदाके लिये उसीमें लीन हो जाता है क्योंकि यदि फिर कभी जन्म लेना पड़े तो मुक्ति क्या हुयी, वह तो एक विश्राम हुआ। किन्तु यह बात इसलिये ठीक नहीं जंचती कि यदि जीव ब्रह्ममें लीन हो गया अर्थात् अपना अस्तित्व खो बैठा तो वह अनित्य हो जायगा। परमेश्वरमें अन्तर्हित होकर चाहे वह परमेश्वर-रूपसे अमर रहे किन्तु जीव-रूपसे तो अनित्य ही होगा। फिर जीवके कार्य सीमित, सान्त तथा उसका सामर्थ्य अल्प होता है उनके बलसे उसे नित्य मुक्ति मिल भी नहीं सकती। न्याय की दृष्टिसे परमेश्वर सान्त कर्मोंका अनन्त फल दे भी नहीं सकता। अल्पज्ञता तो जीवका स्वाभाविक गुण है, वह उसे त्याग कर परमेश्वरके समान अनन्त स्वरूप, सामर्थ्य, गुण और स्वभाववाला कैसे बन सकता है? मुक्तिसे लौट कर पुनः लोकमें प्रवृत्त होनेपर मुक्ति सुखका भाव भी तीव्रतर होता है। यदि जीव मुक्तिसे कभी न लौटें और

बहुत बड़ी संख्यामें जीव मुक्तिके अधिकारी बन जायं तो धीरे-धीरे सृष्टि ही जीवोंसे खाली होने लगे। इसलिये मुक्तिसे भी पुनरावृत्ति माननी पड़ेगी। मुक्तिका काल ऋषियोंने ३६००० बार उत्पत्ति और प्रलयमें जितना समय लगता है उतना ठहराया है जो अल्प नहीं है। वेदोंमें भी 'स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च' अर्थात् परमात्माने मुक्तिके बाद जन्म देकर माता-पिताका दर्शन कराया इत्यादि कथन मिलते हैं। इससे विदित होता है कि मुक्ति मुक्ति पूर्णसुखदायिनी एवं सभी जीवोंका अन्तिम लक्ष्य है।

प्रकृति

आज जिस संसारको हम देख रहे हैं वह सर्वदासे ऐसा ही नहीं है और न सदा ऐसा ही रहेगा। बड़ी २ नदियां, पर्वत, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, आकाश, वायु, अग्नि, जल आदि सभी पदार्थ प्रारम्भमें इसी रूपमें न थे। यदि हम उस अवस्था पर विचार करें जब ये सभी वस्तुयें मूल रूपमें होंगी तो बड़ा आश्चर्य और एक प्रकारका कुतूहल उत्पन्न होगा। संसारकी प्रत्येक वस्तु अपना रूप बदलती दिखायी देती है। उदाहरणके लिये एक बड़े मकानको लीजिये। वह सदासे यों ही बना हुआ नहीं है। एक दिन इसकी ईंटे आपस में जुड़ी न होकर पृथक-२ रही होगी। किसी दिन वे ईंटें भी ईंटके रूपमें न होकर गीली मिट्टीके रूपमें होंगी। मिट्टी भी सर्वदासे एक स्थान पर न रही होगी। अनेक स्थानोंके कण बह-बह कर किसी तालाबमें एकत्रित हुए होंगे। किन्तु वह तालाब भी क्या है? किसी अन्य वस्तुका परिवर्तित रूप-मात्र। इसी प्रकार किसी वस्तुकी तहकी खोज करते चले जाइये आपको बराबर परिवर्तन दिखायी देंगे। तब आप इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुंचेंगे कि सृष्टिकी प्रत्येक वस्तु परिवर्तन-शील है। इसका मूल रूप कुछ और था। जिस प्रकार हम एक वस्तुमें परिवर्तन देखते हैं उस प्रकार वस्तु-समुदायमें भी परिवर्तन देखते हैं। एक मकान ही क्यों, सारा नगर किसी पूर्व-स्थित वस्तुका परिवर्तन मात्र है। इसी प्रकार सारा देश और सारी

सृष्टि। जो नियम एक स्थान पर लागू होता है वही सर्वत्र होगा। तब तो यह स्पस्ट है कि यह दृढ़ भूमि जो आज अगणित मन बोझ धारण कर रही है, जल जो अगण्य पुरुषोंकी तृपा शान्त करता है सदासे इसी रूपमें न था। यह हो सकता है कि इनका निर्माण इतनी जल्दी न हो गया हो जैसे एक मकान, नगर अथवा देशका, किन्तु कभी न कभी इनका निर्माण हुआ अवश्य है फिर चाहे जब हुआ हो। और यह भी स्पष्ट है कि इनका विनाश भी होगा, चाहे जब हो, क्योंकि उत्पन्न वस्तुका विनाश अवश्यं-भावी है। तब देखना यह है कि इस सृष्टिका निर्माण कब और कैसे होता है ?

ब्रह्माण्डकी रचना पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच तत्वोंसे हुयी है। किन्तु केवल ये तत्व स्वयं कोई रचना नहीं कर सकते। जड़ वस्तुमें स्वयं क्रिया नहीं हो सकती। अतः सृष्टि रचना पर विचार करते समय यह ध्यानमें रखना होगा कि प्रकृति से भिन्न कोई कर्ता भी विद्यमान था। किन्तु यह प्रकृति सर्व-प्रथम किस अवस्थामें रही होगी ? इस विपयमें विद्वानोंमें विशेप मतभेद नहीं है कि यह सब ब्रह्माण्ड उत्पत्तिसे पूर्व अर्थात् प्रलयावस्थामें अन्धकारसे आवृत था। उस समय न भूमि थी न आकाश, न सूर्य था न चन्द्र। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट पतंगादि भी न थे। उस समय केवल ३ पदार्थ थे। ईश्वर, जीव और प्रकृति। इनमें ईश्वर और जीवकी नित्यताका वर्णन पहले कर आये हैं। प्रकृति भी अनादि और अनन्त है। यह न कभी उत्पन्न हुई और न कभी नष्ट ही होगी अतः उसका प्रलयावस्थामें भी विद्यमान रहना निश्चित है।

अब यह देखना चाहिये कि जगतकी उत्पत्तिमें ये तीनों क्या २ कार्य करते हैं। यह जाननेके लिये प्रथम यह समझ लेना आवश्यक होगा कि किसी वस्तुके निर्माणके लिये तीन कारणोंकी आवश्यकता होती है। पहला निमित्त कारण, दूसरा उपादान कारण, और तीसरा साधारण कारण। निमित्त कारण बनाने वालेको कहते हैं। निमित्त कारण निर्माण क्रियाका कर्ता होता है। जैसे घड़ाका निमित्त कारण कुम्हार है क्योंकि वह घड़ेका बनाने वाला है। निमित्त कारणको हम चाहें तो दो भागोंमें बांट सकते हैं। मुख्य तथा गौण। मुख्य उसे कहेंगे जो स्वयं किसी पदार्थको कारणसे बनावे और गौण उसे कहेंगे जो अन्यके द्वारा उपस्थित किये पदार्थसे कोई वस्तु बना दे। दूसरा कारण उपादान कारण है। उपादान कारण उसे कहते हैं जिससे कर्ता कोई वस्तु बनाता है। अर्थात् वह वस्तु जिसे रूपान्तर देनेसे नवीन वस्तु बनती है। जैसे घड़ेके बनानेमें मिट्टी उपादान कारण है। घड़ा क्या है? मिट्टीका ही तो दूसरा रूप है। पहले भी मिट्टी थी और घड़ेके टूटने पर भी मिट्टी ही रहेगी। उपादान कारणमें विशेषता यह है कि वह निमित्त कारणकी भांति रचनासे पृथक नहीं रह सकता। उसके नाशसे वस्तुका नाश हो जायगा किन्तु निमित्त कारणमें यह बात नहीं। उसके नाशसे वस्तुका नाश नहीं हो सकता। जैसे घड़ा बनानेके पश्चात् यदि कुम्हार मर भी जाय तो घड़ा नहीं फूट सकता। हां, यदि मिट्टी अपना कार्य छोड़ दे तो घड़ा उसी क्षण नष्ट हो जाय। तीसरा कारण है साधारण कारण इसे करण भी कह सकते हैं। साधारण कारणके भीतर वे

वस्तुयें आती हैं जिनकी सहायतासे कर्ता वस्तुको सिद्ध करता है। जैसे घड़ा बनानेमें चाक, दण्ड, गधा आदि साधारण कारण हैं। साधारण कारणके नष्ट हो जाने पर कार्यका नाश नहीं होता। घड़ा बनानेके पश्चात् यदि चाक टूट जाय, डण्डा नष्ट हो जाय और मिट्टी ढोने वाला गधा मर जाये तो भी घड़ा नहीं फूट सकता। साधारणतया किसी वस्तुके निर्माणमें इन्हीं तीनकी आवश्यकता होती है।

सृष्टिके निर्माणमें भी इन तीन कारणोंका होना आवश्यक है। इसमें पहला निमित्त कारण ईश्वर है। वही इस सारी सचराचर सृष्टि का निर्माण करता है। निमित्त कारणोंमें भी उसे मुख्य निमित्त कारण मानना चाहिये। क्योंकि उसने स्वयं मूल कारणोंका उपयोग कर रचना की। उसके निर्माण-कालमें कोई वस्तु कार्य रूपमें विद्यमान नहीं थी। ऊपर जो घड़ेका दृष्टान्त दिया गया है उसमें कुम्हार गौण निमित्त कारण है क्योंकि वह जिस मिट्टीका घड़ा बनाता है वह भी किसीकी बनायी हुयी है। इसप्रकार सारे जीव भिन्न-२ कार्योंके प्रति गौण निमित्त कारण हैं। संसारका दूसरा कारण है मूल प्रकृति। इसके बिना तो कोई वस्तु बन ही नहीं सकती। सृष्टिकी पूर्वावस्थामें केवल पांचों तत्वोंके परमाणु ही विद्यमान थे। उन्हें यथास्थान संयुक्त कर आवश्यक वस्तुओंमें परिणत कर देना ईश्वरका काम था किन्तु परमाणु न होते तो संयुक्त ही क्या किया जाता? तीसरा कारण परमात्माके ज्ञान, दर्शन, बल तथा काल, दिशा और आकाशादिको मान सकते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि प्रकृति अनादि नहीं। वह परमेश्वरकी

बनायी हुयी है। जब परमेश्वर सर्वशक्तिमान है तो वह प्रकृतिको भी बना सकता है। जैसे मकड़ी बिना किसी उपादान कारणके अपने भीतरसे जाला निकालती है, वैसे ही परमेश्वर भी स्वयं ही अपनी शक्तिसे संसारको बनाता है। किन्तु वे यह नहीं सोचते कि मकड़ी भी तो स्वयं बिना किसी उपादान कारणके जाला नहीं निकालती। जाला निकालने वाला उसके भीतर जीवात्मा है और जिससे निकालता है वह मकड़ीका शरीर है। इस प्रकार जाला निकालनेमें भी दोनों कारण विद्यमान हैं। तब तो उनका उदाहरण ही अशुद्ध हुआ।

कुछ लोग यह कहते हैं कि जगत परमात्मासे इसी तरह बना है जैसे घड़ा मिट्टीसे। किन्तु यह भी अशुद्ध है, क्योंकि मिट्टीसे बने हुए घड़ेमें मिट्टीके गुण रहते हैं। यह नियम है कि उपादान कारणके गुण कार्यमें आया करते हैं। तब परमेश्वरको दुःखमय, निर्दय, अनाचारी आदि सभी कुछ मानना पड़ेगा क्योंकि संसारमें ये सब बातें अधि-कतासे वर्तमान हैं। किन्तु हम देखते हैं कि परमात्मा और सृष्टिके गुणोंमें बहुत वैषम्य है। जैसे परमेश्वर एक रूपसे सदा रहने वाला, चैतन्य स्वरूप तथा आनन्दमय है किन्तु प्रकृति एक रूपसे सदा रहने वाली, जड़ तथा निरानन्द है। परमात्मा कभी उत्पन्न नहीं होता किन्तु जगत् उत्पन्न हुआ है। परमात्मा अदृश्य और जगत दृश्य है। परमात्मा अखण्ड और संसार खण्ड-युक्त है। वह विभु अर्थात् अपरिच्छिन्न है और जगत परिच्छिन्न। इस प्रकार परमेश्वर और जगतके गुणोंमें महान अन्तर स्पष्ट है। तब कोई विचार-शील व्यक्ति

जगतको ईश्वरका परिणाम, अर्थात् जैसे दूध दहीके रूपमें बदल जाता है वैसा, कैसे मान सकता है।

ऋग्वेदका यह कथन है कि 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे' अर्थात् पहले जगत अन्धकारसे आवृत्त अन्धकार-रूप ही था इसीलिये छांदोग्योपनिषद्में भी लिखा है :—

(एवमेवखलु) सोम्यान्नेन शुंगेनापो मूलमन्विच्छ-द्भिस्सोम्य ! शुंगेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य ! शुंगेन सन्मूलमन्विच्छ, सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ।

छान्दोग्योपनिषत्। अ० ६। खं० ८। मं० ४।

अर्थात् हे श्वेतकेतो ! यह जो अन्नरूप पृथिवी है उससे जल रूप मूल कारणको जान, जल रूप कार्यसे तेजो-रूप कारणको जान। तेजो-रूप कार्यसे सद्रूप-कारण नित्य प्रकृतिको जान। यही सद्रूप प्रकृति सब जगतका मूल घर और स्थितिका स्थान है। यह दिखाई देने वाला संसार सृष्टिके पूर्व अविद्यमानके समान प्रकृति, जीवात्मा, और ब्रह्ममें लीन होकर विद्यमान था। अर्थात् इसका अभाव न था। इस बातको साधारणतया सभी वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। सृष्टिमें पांच तत्व हैं या चार, उनका संघटन कैसे हुआ, किस वस्तुका पहले निर्माण हुआ, रचना-क्रम क्या है, कालान्तरमें उसमें क्या परि-वर्तन हुए और होंगे यह विचारना हमारे विषयसे बाहर है। यह वैज्ञानिकोंका कार्य है। जहां तक धर्मका सम्बन्ध है इतना स्पष्ट ही

हो गया कि जिस सृष्टिको हम देखते हैं वह अचानक अकस्मात् यों ही नहीं बन गयी। उसके मूल तत्व पहलेसे वर्तमान थे जिनका कालानुसार उचित प्रयोग होनेसे उसकी रचना हुई।

सांख्य दर्शनमें पहले;—

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

अर्थात् "सत्व (शुद्ध), रज (मध्य) और तम (जड़ता) इन तीनोंकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं। अर्थात् इन तीनों वस्तुओंके संघात का नाम प्रकृति है," इस प्रकार प्रकृतिका लक्षण करते हुए बतलाया है कि सृष्टिकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है।

प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्
पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं। पञ्चतन्मात्रेभ्यः
स्थूलभूतानि,पुरुष इति पञ्चविंशतिगणः।

अर्थात् सृष्टिकी प्रथमावस्थामें अत्यन्त सूक्ष्म-रूप प्रकृतिसे जो कुछ स्थूल होता है उसे महत्तत्व अथवा बुद्धि कहते हैं। उससे जो स्थूल होता है उसे अहङ्कार कहते हैं। इसी अहङ्कारसे पांच भिन्न-भिन्न भूत उत्पन्न होते हैं जिन्हें पञ्चतन्मात्रा भी कहते हैं। किन्तु वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनका—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशका-गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दके रूपमें आभास मात्र रहता है। अहङ्कारसे ही पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियोंकी सृष्टि होती है। मन भी उसीसे उत्पन्न होता है। ये सब इन्द्रियां भी अत्यन्त सूक्ष्म अर्थात् अभासमात्र ही रहती हैं। जिस प्रकार हम

उन्हें शरीरमें देखते हैं उस प्रकार देख नहीं सकते। वस्तुतः शरीरमें देखकर हम जिन्हें इन्द्रियां समझ लेते हैं वे इन्द्रियां नहीं हैं। इन्द्रियां तो अत्यन्त सूक्ष्म हैं। इसीलिये कहीं २ मुख, नासिका, कान इत्यादिके विद्यमान रहते हुए भी उनकी ग्रहणेन्द्रिय नहीं रहती। अस्तु। फिर पञ्चतन्मात्राओं अर्थात् सूक्ष्म रूप वाले पञ्च भूतोंसे स्थूल पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं; इन्हें हम देख सकते हैं। इस प्रकार स्थूल प्रकृतिसे लगाकर स्थूल भूतों तक २४ तत्व हुए और पुरुष अर्थात् जीवको मिलाकर कुल २५ का एक गण बना जिससे समस्त सृष्टिकी उत्पत्ति हुयी।

पञ्च स्थूल महाभूतोंके उत्पन्न होनेके पश्चात, वृक्ष, लता, अन्न, फलादिक पोषक द्रव्योंका निर्माण होता है। अन्न और जलसे वीर्य तथा वीर्यसे शरीरकी उत्पत्ति होती है। यह शरीरोत्पत्ति अमैथुनी होती है, अर्थात् इसकी उत्पत्तिके लिये पुरुष-स्त्रीके संयोगकी आवश्यकता नहीं पड़ती। साथही ये पूर्वोत्पन्न पुरुष-स्त्री युवा रूपमें होते हैं। परमेश्वर उन्हें ज्ञान देता है। वे सृष्टिके रहस्योंसे परिचित रहते हैं। परमात्मा इन्हीं पुरुषों द्वारा संसारको अपना ज्ञान 'वेद' देता है। इसके आगे मैथुनी सृष्टिका प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार भूलोककी उत्पत्ति होती है। अन्य लोकोंका निर्माण भी यों ही होता है। ऋग्वेदमें लिखा है:—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं च अन्तरिक्षमथो स्वः॥

अर्थात् परमेश्वर जिस प्रकारसे कल्प-कल्पमें सूर्य, चन्द्र, भूमि एवं अन्तरिक्षमें रहने वाले पदार्थोंकी रचना करता आया है वैसे ही इस सृष्टिमें भी रचे हैं। इससे यह भी प्रकट होता है कि यह सृष्टि-प्रवाह अनादिकालसे योंही चला चला आया है और अनन्त-कालतक योंही चलता रहेगा। वीचमें प्रलय और सृष्टियां होती रही हैं और होती रहेंगी। गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णने यही कहा है:—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

अर्थात् प्रलय होनेपर सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मामें लीन हो जाती है और कल्प अर्थात् सृष्टिके आदिमें परमेश्वर फिर उसे उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह क्रम सर्वदा जारी रहता है।

यहां यह एक प्रश्न उठ सकता है कि परमेश्वर क्यों व्यर्थ बैठे-बैठाये मुसीबत मोल लेता है। बनाना, पालन करना, फिर मिटाना, जीवोंके भले बुरे कर्मोंका हिसाब लगाना और वह भी इतने विस्तृत ब्रह्माण्डका जिसकी कल्पनासे ही मस्तिष्क चकराने लगता है, कितना कष्टप्रद काम है। वह आनन्द-स्वरूप है उसे सानन्द निश्चिन्त रहना चाहिये था। यदि कोई यह कहे कि उसने अपने सामर्थ्यको दिख-लानेके लिये संसारकी रचना की है तो ईश्वर भी साधारण पुरुषकी भांति हो जायगा जो अपनी शक्तिकी प्रशंसा सुननेके लिये कठिनसे कठिन कार्य करनेपर उतारू हो जाता है। इसका उत्तर यही है कि जिस प्रकार सृष्टि अपने नियमोंसे बंधी है, जीव अपने नियमोंसे आवद्ध

है, भारतमें सूर्य कभी १० बजे नहीं निकल सकता, और जीव कभी बिना कर्मोंका फल पाये नहीं रह सकता, उसी प्रकार परमेश्वर भी अपने नियमोंसे बद्ध है। सृष्टि-रचना उसका स्वाभाविक कर्म है। स्वाभाविक कर्मसे किसीको कष्ट भी नहीं होता। सांस लेना प्राणीका स्वाभाविक कार्य है। इससे उसे कुछ भी कष्ट नहीं होता क्योंकि इसके लिये उसे प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं होती। परमेश्वरके भी सृष्टि, पालन और प्रलय स्वाभाविक कर्म हैं इनसे उसे कोई क्लेश नहीं होता। परमेश्वरका तो लक्षण ही है:—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष-विशेष ईश्वरः।

योग दर्शन।

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पञ्च क्लेशों, और कर्म-विपाकसे रहित, जीवोंसे बड़ी शक्तिका नाम ईश्वर है। फिर भी यदि कोई कहे कि कष्ट न भी हो तो भी व्यर्थ सृष्टि बनानेकी क्या आवश्यकता थी। कष्टकर न होनेपर भी अनावश्यक कार्य नहीं किया जाता। यह बात ठीक है। किन्तु सृष्टि अनावश्यक नहीं बनायी गयी। करोड़ों अरबों जीव जो आज उत्तम कर्म करनेका अवसर पा रहे हैं, निकम्मे ही पड़े रहते। उनको अपने कर्मानुसार फल पानेका अवसर ही नहीं मिलता, अनेकों पवित्रात्मा जीव जो उत्तम कर्मोंका अनुष्ठान कर मोक्ष-सुखके भागी होते हैं सुषुप्ति की अवस्थामें निकम्मे पड़े रहते। इसलिये सृष्टि रचनाका मुख्य उद्देश्य जीवोंका उपकार है। दूसरे यदि किसी मनुष्यके पास नेत्र

हों और वह उनका उपयोग न करे तो उसे कोई बुद्धिमान् न कहेगा। नेत्रोंकी सफलता देखने तथा दूसरोंको मार्ग दिखानेमें ही है। उसी प्रकार विज्ञान, बल, बुद्धि आदिकी सफलता सृष्टि रचने हीमें है न रचनेमें नहीं।

वेदोंसे यह भी पता चलता है कि मनुष्य-सृष्टि सर्व-प्रथम त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बतसे प्रारम्भ हुयी थी। परमेश्वरने पूर्व-सृष्टि-कालके संचित कर्मोंके अनुसार जीवोंको यथानुकूल परिस्थितिमें जन्म दिया। पीछे स्वाभाविक रूपसे कुछ लोगोंका चरित्र उत्तम और कुछका पतित हो गया। उत्तम चरित्रके लोग आर्य और पतित लोग दस्यु या असुर कहे जाने लगे। सुर और असुरोंमें प्रायः लड़ाई-झगड़े रहते थे। अन्तमें आर्योंने भारतभूमिको संसारमें श्रेष्ठ मानकर यहां पदार्पण किया। भारतमें भी गंगा, यमुनाके मध्य भागको उत्तम मानकर वहां बस गये और तबसे भारत-भूमिका नाम आर्यावर्त हुआ।

भूलोक सृष्टिका एक अत्यन्त छोटा भाग है। इसके अतिरिक्त भी सूर्य चन्द्र और नक्षत्र लोक आदि अनेक लोक हैं। इनमेंसे कई तो भूलोकसे लाखों गुने बड़े हैं। जैसे इस लोकमें मनुष्य सृष्टि है वैसे ही अन्य लोकोंमें भी है। इसीलिये वेदोंमें चन्द्र नक्षत्रादिको वसु कहा है और वसुकी व्याख्या की है कि जिसमें लोग निवास करें। परमेश्वरकी सृष्टिका एक कणभी आवश्यकतासे अधिक नहीं है। यह सम्भव है कि हम अपने दृष्टिकोणसे उसे निरर्थक समझें, क्योंकि हम विचार करते समय किसी वस्तुको इसी लिये व्यर्थ समझ लेते

है कि वह हमारे किसी कामकी नहीं। किन्तु सारी सृष्टि मनुष्यके लिये ही नहीं बनायी गयी, ऐसा विचार-सामञ्जस्य बैठानेसे कोई भी वस्तु निरर्थक सिद्ध नहीं हो सकती। तब तारा लोक भी अपना तात्पर्य अवश्य रखते हैं। इससे प्रतीत होता है कि भूलोकके समान वहां भी सब वस्तुयें विद्यमान हैं। अब तो विज्ञानने यह बात और भी स्पष्ट कर दी है। वहां भी इसी प्रकार परमेश्वरकी वेद व्यवस्थासे कार्य सञ्चालन होता है।

पृथ्वीकी स्थितिके विषयमें भारतके विभिन्न सम्प्रदायोंने अपने-अपने विचित्र मत स्थिर कर लिये हैं। कोई उसे शेषनागके फनपर मानता है, कोई गायके सींगोंपर, कोई कूर्म, वराहादिकी एक लम्बी तालिका उपस्थित करता है, कुछ लोग कहते हैं कि आठों दिशाओं पर आठ हाथी उसे अपनी शक्तिसे रोके हुए हैं। किन्तु ये सब मत निर्मूल हैं। वे एक साधारण प्रश्नका भी झटका नहीं सह सकते। यदि उनसे पूछ दिया जाय कि शेषनाग, गाय या हाथी किस पर हैं तो वे इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कह सकते कि ये परमेश्वर की शक्तिसे अपने बलपर खड़े हैं। अन्तमें उन्हें भी परमेश्वरका सहारा लेना पड़ेगा। इसीलिये यजुर्वेदमें लिखा है:—

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्।

अर्थात् उस परमात्माने ही पृथिवी और द्युलोक को धारण किया। वेदमें एक स्थान पर यह भी लिखा है:—

उक्षा दाधार पृथिवीमुत द्याम्। ऋग्वेद।

'उक्षा अर्थात् सूर्यने पृथिवी और द्युलोक को धारण किया'। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्य वर्षा द्वारा पृथिवी का सेचन कर पालन करता है। इसीलिये उसे उक्षा कहा है। किन्तु साधारणतया उक्षा बैल को कहते हैं। सम्भवतः इसी उक्षा शब्दसे किसी को भ्रम हो गया और बलके सींग पर पृथिवीके ठहरनेकी जन-श्रुति चल पड़ी।

मध्य-कालमें अनेक विद्वानों का यह भी विचार हो गया था कि पृथिवी अचला है। सूर्य उसके चारों ओर घूमता है। इसीलिये अनेक ग्रन्थों में, पृथिवी के लिये अचला शब्द का प्रयोग किया गया है। कई कोशकारों ने भी इस शब्दको पृथिवी का पर्यायवाची माना है। किन्तु यह सिद्धान्त वेदोंके अनुकूल नहीं हैं। यजुर्वेद में एक मन्त्र है:—

अयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः।

इससे व्यक्त होता है कि यह गौ (पृथिवी) जल सहित सूर्यके चारों ओर घूमती है। गौ का अर्थ ही है गमन करने वाली। वेदों में स्थान २ पर पृथिवी का गौ शब्दसे ग्रहण किया गया है। इससे पृथिवी का घूमना स्पष्ट हो जाता है। यह भ्रमण सूर्य के आकर्षण के कारण होता है। वेदों के सिद्धान्तानुसार सूर्य स्थिर भी है और अस्थिर भी है। चूंकि सूर्य पृथिवी के चारों ओर नहीं घूमता अतः पृथिवी की अपेक्षा स्थिर है। और अपने केन्द्रके इर्द-गिर्द घूमने के कारण गति-शील भी है। सूर्यका यह घूमना आवश्यक भी है क्योंकि सूर्य

जैसा भारी पदार्थ विना घूमे आकाश में एक निश्चित स्थान पर स्थिर नहीं रह सकता।

इतनी बड़ी विशाल सृष्टि जिसका एक क्षुद्रतम अंग भूलोक इतने बड़े रहस्यों से भरा है उसके कर्ताका महत्त्व कितना होगा? हम हजारों जन्मों में पृथिवी का रहस्य नहीं जान पाते। सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर आज तक सभी विद्वान् सृष्टिके रहस्यकी खोज करनेमें लगे हैं किन्तु आज भी कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि उसने पृथिवीके एक भाग को भी पूर्णतया जान लिया है। मनुष्यकी सत्ता ही क्या है? जिसे इतना भी ज्ञान नहीं कि इस समय उसके पेटके भीतर क्या हो रहा है एवं उसकी पीठके पीछे कौन-कौन शक्तियां काम कर रही हैं। बड़े २ वैज्ञानिक इसी सृष्टि के अन्वेषण की उधेड़वुन में पड़े रहते हैं और जब वे कोई नई बात खोज निकालते हैं तो वे और हम सब उनकी सफलता पर गर्व करते हैं। किन्तु यदि हम सोचें कि उन्होंने कौन-सा नया काम किया है, तो इसके अतिरिक्त कुछ उत्तर न मिलेगा कि उन्होंने एक ऐसी बात खोज निकाली है जो उन्हें तथा अन्य लोगों को अब तक ज्ञात न थी। ऐसा कहने का कोई साहस नहीं कर कर सकता कि वह वस्तु या सिद्धान्त पहले था ही नहीं। उदाहरणके लिये न्यूटन को ले लीजिये। उसने क्या किया? यही न, कि एक फलको भूमि पर गिरते देख कर यह सोचा कि यह फल आकाश की ओर क्यों नहीं चला गया और इस शङ्कासे यह परिणाम निकाला कि पृथिवी में आकर्षण शक्ति है जो पदार्थों को शक्त्यनुसार अपनी

ओर खींचती है। किन्तु क्या न्यूटन के पूर्व पृथिवीमें आकर्षण-शक्ति न थी? तब हमने न्यूटनसे यही तो सीखा कि हम इतने मूर्ख हैं जो नित्य आंखोंके सामने होने वाली घटनाओंसे भी परिचित नहीं। इसी प्रकार सब आविष्कारों के विषय में कह सकते हैं। इसीलिये वेदों एवं उपनिषदों ने भी उस महान् शक्ति के सम्मुख श्रद्धा से सिर झुकाया है जो ऐसे लाखों लोगों पर शासन करती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् का वचन है:—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म।

अर्थात् जिस परमात्मासे यह सब सृष्टि उत्पन्न हुयी है, जिसमें यह जीवित रहती है, और फिर जिसमें लीन हो जाती है उसीको जानने की इच्छा करो।

इतना होने पर भी भारत में दार्शनिकों का एक ऐसा सम्प्रदाय है जो यह मानता है सृष्टि कोई वस्तु ही नहीं है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री स्वामी शङ्कराचार्यजी हैं। इस सम्प्रदाय वाले अपने को वेदान्ती कहते हैं। इनका मत है कि यह सारी सृष्टि वस्तुतः कुछ नहीं है। ब्रह्माण्ड में केवल ब्रह्म ही है। हम जो कुछ देखते, सुनते, व समझते हैं वह सब स्वप्नवत् है। जिस प्रकार मनुष्य स्वप्न में देखता है कि मैं राजा हो गया हूं, सारा संसार मेरे शासन में है, मैं बड़ी २ सेनायें ले कर संसार को विजय कर रहा हूं, उसी प्रकार संसार के व्यवहार हैं। जैसे स्वप्न अपने समय में आनन्द और कष्ट दोनों देता है किन्तु वह सुख दुःख वास्तविक नहीं होता, वैसे ही

संसारके व्यवहारों से होने वाले सुख दुःख वास्तविक नहीं, केवल काल्पनिक हैं। जैसे स्वप्न में कभी २ यह विचार उत्पन्न होता है है कि मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूं वैसे ही लोकमें भी होता है किन्तु स्वप्न टूटने पर उसका मिथ्यात्व स्पष्ट हो जाता है। वह स्वप्न भ्रमके अतिरिक्त कुछ नहीं। ज्ञान होने पर विद्वान् समझ लेता है कि समस्त सृष्टि मिथ्या है और वह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' अर्थात् केवल ब्रह्म ही सत्य है, यह जगत् मिथ्या कल्पित है। वस्तुतः सब दृश्यमान ब्रह्म है। जैसे पानी में बुदबुदा उठता है और पानीमें समा जाता है। लोग उसे जलसे भिन्न समझते हैं पर बुदबुदा पानी से अतिरिक्त कुछ नहीं। जगत् का भान भी ब्रह्म में होता है जिसका कारण अविद्या है। इस अविद्या का नाम माया भी है। यह अनादि है। यह पता नहीं, कि कबसे चली आ रही है किन्तु सान्त अवश्य है। एक न एक दिन उसे मिटना है। स्वप्न भी देखते समय अनादि ही होता है क्योंकि स्वप्न-काल में कोई द्रष्टा यह नहीं जानता कि मैं स्वप्न कबसे देख रहा हूं। ऐसा जाने तो भ्रम रहे ही न। किन्तु वह स्वप्न मिटता अवश्य है यही हाल अविद्या का है। जिसको ब्रह्म में जगत् का भान होता है वह भी ब्रह्म है। अर्थात् जीव भी ब्रह्म है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में जिस ईश्वर, जीव और प्रकृति का वर्णन हुआ वह वेदान्तियों के मतसे कुछ भी नहीं केवल एक ब्रह्म का रूप है। इसी को ले कर वेदान्ती लोग 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन' अर्थात् एक केवल ब्रह्म है, यहां भिन्न-भिन्न प्रकार का कुछ भी नहीं है, ऐसा

प्राय: कहा करते हैं। उनके इस मिथ्या ज्ञान के भीतर वेद, शास्त्र, सूर्य, चन्द्र, उनका स्वयं ज्ञान आदि सभी संसार की दृश्य अदृश्य वस्तुयें आ जाती हैं।

इस विषय में विचारणीय बात यह है कि जब हम किसी बात को सिद्ध करते हैं तो पहले यह देखते हैं कि हमें सिद्ध क्या करना है। यह सोचते ही क्यों का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। इसका समाधान होते ही यह विचार उठ खड़ा होता है कि ऐसा और भी कहीं देखा जाता है? जब इसका भी ठीक उत्तर मिल जाता है तब कुछ देर तक इसलिये प्रतीक्षा करते हैं कि इस कथनके विरुद्ध यदि कोई बात हो जो मालूम पड़ जाय। जब उसका विरोधी तर्क नहीं मिलता तो उसे सिद्ध मान लेते हैं। जैसे किसी घड़े को देख कर हम यह सिद्ध करना चाहते हैं कि इसे किसीने बनाया है। पहले अपने इस विचारका कारण पहले ढूंढना पड़ेगा जिससे ऐसी धारणा बन सकी। झट एक तर्क सामने उपस्थित हो जायगा कि जो वस्तु बनी हुयी होती है वह किसीके द्वारा बनायी हुयी अवश्य होती है। यदि कोई पूछे कि इस कथन में प्रमाण? तो सामने पड़ी हुयी वस्तुओं को दिखा कर झट कह देंगे कि देखो ये सब वस्तुयें अमुक २ व्यक्ति की बनायी हुयी हैं। ऐसी कोई वस्तु आज तक नहीं देखी गयी जो किसी न किसी द्वारा बनाई न गई हो। इससे सिद्ध होता है कि घड़ा भी किसी के द्वारा अवश्य बनाया गया है। तब कोई विरोधी प्रमाण न मिलने से यह बात सत्य मानली जायगी कि घड़े को किसी ने बनाया है। यह ढंग सभी बातोंके सिद्ध करने का है।

इस नियम द्वारा जब हम जगत् के मिथ्यात्व पर विचार करते हैं तो ऊपर का कथन सत्य नहीं ठहरता। क्योंकि यदि कहें जगत् मिथ्या हैं, इन्द्रिय-ग्राह्य होने से जैसे स्वप्न। तो झट यह विचार उपस्थित हो जायगा कि स्वप्न भी तो उसीके भीतर है जिसे हम मिथ्या सावित करने जा रहे हैं। स्वप्न भी संसार के भीतर ही है। यदि कोई कहे कि यह घड़ा वनाया हुआ है जैसे यह दूसरा घड़ा। तो उसका कथन उपहासास्पद माना जायगा। क्योंकि जिस घड़े का वह उदाहरण दे रहा है वह स्वयं सिद्ध नहीं है इसलिये उसे घड़े के अतिरिक्त कोई ऐसो वस्तु उदाहरणार्थ उपस्थित करनी पड़ेगी जिसके विषय में सभी जानते हैं कि वह बनी हुयो है। उसी प्रकार जगत् को मिथ्या सिद्ध करने वालों को ऐसा उदाहरण उपस्थित करना चाहिये जो जगत् से वाहर का हो।

स्वप्नका उदाहरण तो वैसे भी ठोक नहीं है। स्वप्न सदा उसी वस्तुका देखा जाता है जो पहले देखी हुयी रहती है। "स्वप्न में मनुष्य अपनेको उड़ता हुआ भी पाता है यद्यपि उसे उड़नेका अनुभव नहीं है" ऐसा कह कर यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि स्वप्न अदृष्ट एवंअज्ञातका भी होता है क्योंकि यद्यपि मनुष्य स्वयं नहीं उड़ता तथापि पक्षियोंको उड़ते देखकर उसके अन्त:करणमें यह भावना अवश्य उत्पन्न होती है कि मैं भी उड़ सकता। यह भावना संस्कार रूपसे उसके मनमें स्थित रहती है और समय पाकर स्वप्न रूपमें प्रस्फुटित होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वप्नमें भी दो वस्तुयें मुख्य रूपसे विद्यमान रहती हैं द्रष्टा और दृश्य। तब इस विश्व प्रपञ्च-

रूपी महास्वप्न देखनेके लिये भी जीव और सृष्टिकी अपेक्षा होगी। जैसे स्वप्न देखनेके लिये वाह्य प्रकृतिका विद्यमान होना आवश्यक है, उसी प्रकार विश्वका स्वप्न देखनेके लिये भी तो ब्रह्मसे भिन्न किसी अन्य वस्तुकी आवश्यकता है। फिर यह स्वप्न भी बड़ा विचित्र है। सोते समय तो प्रत्येक मनुष्य भिन्न २ प्रकारके स्वप्न देखता है किन्तु यहां जागृत अवस्थामें प्रत्येक लोकके अरबों मनुष्य एक ही प्रकारका स्वप्न देखते हैं।

ऐसा कहने वालोंके सम्मुख एक बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होगी कि उनका कथन स्वयं मिथ्या माना जायगा। क्योंकि यह कथन भी इसी मिथ्या संसारके भीतर होगा। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' आदिका भी वह अर्थ नहीं है जो वे समझते हैं। इसका तात्पर्य तो यह है कि ब्रह्म एक और अद्वितीय है। अद्वितीयका अर्थ यह कदापि नहीं कि उससे अतिरिक्त संसारमें कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है। जब हम कहते हैं कि गामा संसारमें अद्वितीय पहलवान है तो हमारा तात्पर्य यहनहीं होता कि उससे अतिरिक्त अन्य कोई पहलवान ही नहीं है। ऐसा कथन उसकी शक्तिकी अधिकता दिखलानेके लिये ही होता है। वैसे ही ईश्वरके समान कोई नहीं है यह प्रकट करनेके लिये उसे अद्वितीय कहा है। इसी प्रकार अन्य वाक्योंके भी अर्थ हैं।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रकृति सत्य, अनादि और अनन्त है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है :—

नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः॥

तत्वदर्शी विद्वानोंने इस बातको पूर्णतया समझ लिया है कि विद्यमान वस्तुका त्रिकालमें अभाव नहीं हो सकता और अविद्यमान वस्तु कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। तब सृष्टिको केवल काल्पनिक मानकर उसकी सत्ताको नष्ट करनेका उद्योग करना कहां तक न्याय है?

इन सिद्धान्तकी सिद्धान्ततामें ही दोष हो सो बात नहीं। बहुतसे ऐसे भी सिद्धान्त हैं जिनके विषयमें यदि मतभेद हो तो लोक की विशेष हानि नहीं जैसे—देखनेके लिये प्रकाश आंखके पास आता है या आंख प्रकाशके पास जाती है? इन दोनों विचारोंमें यदि दार्शनिक एक-मत न भी हो सकें। तो संसारको कोई बड़ी हानि नहीं पहुंच सकती। किन्तु सृष्टिको भ्रम माननेसे लोकको बहुत बड़ी हानि पहुंचनेकी सम्भावना है। साधारण लोक तो इसका दुरुपयोग भी करेंगे। वे सोचेंगे! सृष्टि तो अनित्य है ही। यहां किया हुआ पाप-पुण्य सब भ्रम है। कर्मकी आवश्यकता ही क्या? इस प्रकार देशमें अकर्मण्यता फैल जायगी! इसी लिये आधुनिक विद्वान शांकर वेदान्तको भारतमें फैली हुयी अकर्मण्यताके लिये दोषी मानते हैं।

सृष्टिकी रचना हमारे लाभके लिये हुयी है। अतः हम सबका कर्तव्य है कि उससे अधिकाधिक लाभ उठा कर अपना जीवन पवित्र बनायें और अन्तमें अक्षय सुख प्राप्त करें।

प्रार्थना-मन्त्र

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ १ ॥

यजु०, अ० ३०, मं० ३ ।

अर्थ—हे सकल जगत के उत्पत्तिकर्ता, परमैश्वर्यशाली, शुद्ध-स्वरूप, सब सुखोंके दाता परमेश्वर। आप कृपा करके हमारे सब दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखोंको दूर कीजिये और जो कल्याण-कारक गुण, कर्म, स्वभाव एवं पदार्थ हैं, वे हमें प्रदान कीजिये।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋग्० १०।१२१।१, यजु०, अ०, १३ मं०, ४।

अर्थ—जो प्रकाश-स्वरूप सूर्य-चन्द्रादि पदार्थोंको उत्पन्न करने-वाला है, जो समस्त उत्पन्न विश्वका प्रसिद्ध स्वामी तथा सृष्टिकी उत्पत्तिके पूर्व भी विद्यमान था, वही इस भूमि और सूर्यादिको धारण कर रहा है। हम लोग उस सुख-स्वरूप परमात्माकी भक्ति किया करें।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋग्० १०।१२१।२, यजु० अ०, २५ म०, १२

अर्थ—जो आत्मज्ञान एवं शक्तिका दाता है। जिसकी सब विद्वान उपासना करते तथा सत्य-स्वरूप शासन, न्याय और शिक्षा को मानते हैं, जिसका आश्रय मोक्ष-सुखका दायक और

विस्तृति क्लेशप्रद है उस परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये हम अन्तःकरणसे उसकी भक्ति करें।

य: प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषाविधेम॥

ऋग्० १०।१२१।३, यजु०, अ० २३, म० ३।

अर्थ—जो अपनी महिमासे समस्त सचराचर सृष्टिका प्रकाश स्वरूप एवं शासक है। जो मनुष्य और पशु-पक्षी आदि सभीकी रचना करता है, उस सुख-स्वरूप, ऐश्वर्यदायक परमेश्वरका सर्वस्व अर्पण कर सेवन करें।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वःस्तभितंयेन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषाविधेम॥

ऋग्० १०।१२१।५, यजु०, अ० ३२, मं० ३।

अर्थ—जिस परमात्माने तीक्ष्ण स्वभाव वाले सूर्यादि तथा पृथिवीको धारण किया, जिस परमेश्वरने सुखको तथा दुःख-रहित मोक्षको धारण किया, जो अकाश तथा सब लोकलोकान्तरोंका निर्माण कर उन्हें भ्रमण कराता है, उसी कमनीय ब्रह्मकी सर्वतोभाव से उपासना करनी चाहिये।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामांस्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

ऋग्०, म० १०, सू० २१, म० १०।

अर्थ—हे सकल प्रजाके स्वामी आपके अतिरिक्त अन्य कोई इन सब दृश्यमान भूगोलादिका बनानेवालाला और व्यापक नहीं है।

जिस कामनासे युक्त होकर हम आपकी भक्ति करें उसकी हमें प्राप्ति हो जिससे हम ऐश्वर्यशाली एवं विपुल सम्पत्तियोंके स्वामी बन जायें।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥

यजु०, अ० ३२, मं० १०।

अर्थ—वह परमेश्वर हम सब लोगोंको भ्राताके समान सुखदायक जगतका रचयिता, सर्व कार्योंको पूर्ण करनेवाला, एवं लोकमात्र,नाम, स्थान और जन्मादिकको जाननेवाला है। विद्वान् लोग मोक्षको प्राप्त होकर उसी सांसारिक दुःख सुखसे रहित नित्यानन्द-युक्त मोक्ष-स्वरूप धारण करनेवाले परमात्मामें विचरण करते हैं।

अग्ने नय सुपथाराये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

यजु०, अ० ४०, म० १६।

अर्थ—हे स्व-प्रकाश, ज्ञान-स्वरूप, सब जगतके प्रकाशक और सब सुखोंके दाता परमेश्वर! आप सम्पूर्ण-विद्या-युक्त हैं। विज्ञान व ऐश्वर्यादिकी प्राप्तिके लिये धर्म-युक्त आप्त लोगोंके मार्गसे विज्ञान और कर्मकी प्राप्ति कराइये और हमसे कुटिलता-युक्त पाप रूप कर्मको दूर कीजिये। हमलोग बारम्बार आपको नम्रता पूर्वक प्रणाम करते हैं।

वैदिक सन्ध्या

शास्त्रोंने प्रातः और सायं दोनों सन्धिकालोंमें सन्ध्याका विधान किया है। शौच स्नानादिसे शरीर शुद्धि कर एकान्त स्थानमें शान्त चित्तसे सन्ध्या करना चाहिये। सर्व-प्रथम दाहिने हाथमें शुद्ध जल लेकर :—

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥१॥

ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥२॥

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥३॥

इन तीन मन्त्रोंसे एक एक मन्त्रसे एक आचमन कर हाथ धो डालना चाहिये। फिर कान, आंख, नासिका आदिका शुद्ध जलसे स्पर्श करके पवित्रासन पर जिधरकी वायु हो उधर मुख करके बैठ जाना चाहिये। तत्पश्चात् नाभिके नीचेसे मूत्रेन्द्रियको ऊपर संकोच कर हृदयकी वायुको बलपूर्वक बाहर निकाल दे और यथाशक्ति बाहर ही रोके रहे। तत्पश्चात् जब कुछ कष्ट मालूम होने लगे तो वायुको धीरे-धीरे भीतर खींच ले। यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार कमसे कम तीन प्राणायाम करे। किन्तु ऐसा करते समय स्वाभाविक रूपसे सांसको निकाले और बाहर रोके। नासिका पकड़नेकी आवश्यकता नहीं। फिर :—

ओ३म् शन्नोदेवीरभिष्टय आपोभवन्तु पीतये।

शंय्योरभिस्रवन्तु नः ॥

इस मन्त्रको एक बार पढ़ कर तीन आचमन करे। पश्चात् पात्रमेंसे मध्यमा, अनामिका अंगुलियोंसे जल स्पर्श करके प्रथम दक्षिण और फिर बाम अंगोंका नीचे लिखे अनुसार स्पर्श करे।

ओं वाक् वाक् ॥ इस मन्त्रसे मुखके दोनों पार्श्व।

ओं प्राणः प्राणः। इससे नासिकाके दोनों छिद्र।

ओं चक्षुश्चक्षुः। इससे दोनों नेत्र।

ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्। इससे दोनों कान।

ओं नाभिः। इससे नाभि।

ओं हृदयम्। इससे हृदय।

ओं कण्ठः। इससे कण्ठ।

ओं शिरः। इससे शिर।

ओं बाहुभ्यां यशो बलम्। इससे दोनों भुजाओंके मूल अर्थात् कंधे।

ओं करतलकरपृष्ठे। इससे दोनों हाथोंके ऊपर तले स्पर्श करे।

इस प्रकार अङ्ग-स्पर्श करनेके पश्चात् मार्जन करे। अङ्ग-स्पर्श और मार्जनसे शरीरमें स्फूर्ति आ जाती है साथ साथ वेद-मंत्र कर्तव्योंका स्मरण भी करा देते हैं।

बाम हाथमें जल लेकर दाहिने हाथसे नीचे लिखे मन्त्रोंके अनुसार अङ्गों पर छिड़कता जाय।

ओं भूः पुनातु शिरसि। इस मन्त्रसे सिर पर।

ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः। इससे दोनों नेत्रों पर।

ओं स्वः पुनातु कण्ठे। इससे ग्रीवा पर।

ओं महः पुनातु हृदये। इससे वक्षःस्थल पर।

ओं जनः पुनातु नाभ्याम्। इससे नाभि पर।

ओं तपः पुनातु पादयोः। इससे दोनों पैरों पर।

ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि। इससे पुनः मस्तक पर।

ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र। इससे सारे अङ्ग पर जलके छींटे दे।

पूर्वोक्त प्रकारसे प्रणायाम कर साथ-साथ निम्नलिखित मन्त्रका जप भी करता जाय।

ओं भूः, ओं भुव, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः ओं सत्यम्।

तत्पश्चात् सृष्टिकर्ता परमात्मा और सृष्टिक्रम पर विचार कर निम्न लिखित मन्त्रोंका पाठ करे।

ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः। १।

ओं समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहो रात्राणि विदद्विश्वस्य मिषतो वशी। २।

ओं सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः। ३।

इन मंत्रोंको पढ़ कर पुनः (शन्नो देवी०) इस मंत्रसे तीन आचमन कर निम्नलिखित मंत्रोंसे परमेश्वरकी स्तुति व प्रार्थना करे :—

ओं प्राची दिग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः। १।

ओं दक्षिणादिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो०.........। २।

ओं प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो०.........। ३।

ओं उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिता शनिरिषवः। तेभ्यो०.........। ४।

ओं ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्मापग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो०.........। ५।

ओं ऊर्ध्वादिग्वृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो०.........। ६।

इन मंन्त्रोंको पढ़ते जाना और मनसे चारों ओर बाहर-भीतर परमात्माको पूर्ण जान कर उसका ध्यान करना चाहिये। विना अर्थ-विचार और एकाग्र-चित्तसे किया हुआ मंत्र-पाठ कोई विशेष महत्व नहीं रखता।

इन मंत्रोंको पढ़ लेनेके पश्चात्, परमेश्वर मेरे निकट है और मैं परमात्माके निकट हूं, ऐसी भावना करके निम्नलिखित मंत्रोंका पाठ अर्थ-चिन्तन पूर्वक करना चाहिये।

ओं उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्मज्योतिरुत्तमम्। १।

ओं उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम् ।२।

ओं चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा-द्यावा पृथिवी अन्तरिक्ष ँ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा। ३।

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शत ँ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शत-मदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्। ४।

तत्पश्चात् यथाशक्ति गायत्री मन्त्रका जप करना चाहिये।

ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

फिर निम्नलिखित मंत्रसे ईश्वरको नमस्कार करे।

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मय-स्कराय च। नमः शिवाय च शिवतराय च।

* इति सन्ध्योपासन विधिः *

———

दैनिक हवनविधि ।

१—नित्य हवन करने वालकों को प्रथम दिये हुए ८ प्रार्थनाके मंत्रोंका पाठ कर, नीचे लिखे तीन मन्त्रोंमेंसे प्रत्येकसे एक आचमन करना चाहिये ।

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा । १ ।

ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा । २ ।

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा । ३ ।

२—बायें हाथमें जल लेकर दाहिने हाथसे नीचे लिखे मन्त्रों द्वारा उनके सामने लिखे अंगोंका जलसे स्पर्श करना ।

ओं वाङ् म आस्येऽस्तु—से मुख,

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु—से नाक,

ओं अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु—से आँख,

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु—से कान,

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु—से बाहु,

ओं ऊर्वोर्मे ओजोस्तु—से जंघा,

ओं अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु—से सम्पूर्ण शरीर पर जल छिड़के ।

३—तदनन्तर समिधायें चुनकर नीचे लिखे मंत्रसे कपूरको जलावे

ओं भूर्भुवः स्वः ।

४—नीचे लिखे अग्न्याधान मन्त्रको पढ़कर कपूरको यज्ञकुण्डमें रक्खे ।

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।

तस्यास्ते पृथिवी देवयजनिपृष्ठेऽग्नि मन्नादमन्नाद्यायादधे।

५—नीचेके मन्त्रको पढ़कर अग्नि प्रज्वलित करे।

ओं उद्बुध्यस्वाग्नेप्रतिजागृहित्वमिष्टापूर्ते सँ सृजेथा मयं च।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत।

६—आठ-आठ अंगुलकी ३ समिधायें अग्निमें डुबोकर नीचे लिखे अनुसार छोड़ना चाहिये।

ओं अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्ववर्धस्व चेद्धवर्धय चास्मान्। प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥
इदमग्नयेजातवेदसे इदन्नमम।

इस मन्त्रसे पहली समिधा चढ़ावें।

ओं समिधाग्नि दुवस्यत घृतैर्बोधयातिथिम्।
आस्मिन्हव्याजुहोतन स्वाहा। इदमग्नये इदन्न मम।
ओं सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे स्वाहा। इदमग्नये जातवेदसे इदन्न मम।

इन मन्त्रोंसे दूसरी समिधा चढ़ावे।

ओं तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेनवर्द्धयामसि। बृहच्छोचाय-विष्ठ्यस्वाहा। इदमग्नयेऽङ्गिरसे इदन्न मम।

इस मन्त्रसे तीसरी समिधा चढ़ावें।

७—निम्नलिखित मंत्रसे घृतकी पांच आहुतियां दें।

ओं अयन्त इध्मजातवेदस्तेनेध्यस्व वर्द्धस्व चेद्धवर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा। इदमग्नये जातवेदसे इदन्नमम।

८—निम्नलिखित मन्त्रों से कुण्डके चारों ओर जल छिड़के।

ओं अदितेऽनुमन्यस्व—इससे पूर्व,
ओं अनुमतेऽनुमन्यस्व—इससे पश्चिम,
ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व— इससे उत्तर;

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूःकेतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु।

इससे चारों ओर जल छिड़के।

९—निम्नलिखित मन्त्रोंसे घृतकी आहुति दें।

ओं अग्नये स्वाहा। इदमग्नये इदन्न मम।

इससे कुण्डके उत्तर भागमें।

ओं सोमाय स्वाहा। इदं सोमाय इदन्न मम।

इससे कुण्डके दक्षिण भागमें।

ओं प्रजापतये स्वाहा। इदं प्रजापतये इदन्न मम।

ओं इन्द्राय स्वाहा। इदमिन्द्राय इदन्न मम।

इन दोनोंसे कुण्डके बीचमें।

१०—निम्नलिखित मन्त्रोंसे प्रातःकाल सामग्रीकी भी आहुतियां देनी चाहिये।

ओं सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा। १।

ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। २।

ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा। ३।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा। ४।

११—निम्नलिखित मन्त्रोंसे चार सायंकालकी आहुतियां दें। यदि एक समय ही हवन करते हों तो प्रातः काल ही सायङ्कालके मन्त्रोंसे भी आहुतियां दें।

ओं अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा । १ ।

ओं अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा । २ ।

ओं अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा । ३ ।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा । ४ ।

१२—फिर निम्नलिखित मन्त्रोंसे आठ आहुतियां दे ।

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा । इदमग्नये प्राणाय इदन्न मम । १ ।

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा । इदं वायवेऽपानाय इदन्न मम । २ ।

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा । इदमादित्यायव्यानाय इदन्नमम।३।

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा । इदमग्नि वाय्वादित्येभ्यः प्राणापान व्यानेभ्यः इदन्न मम । ४

ओं आपो ज्योतिरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवःस्वरों स्वाहा । ५

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने-मेधाविनं कुरु स्वाहा ।

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव स्वाहा ।

ओं अग्ने नय सुपथाराये अस्मान् विश्वानिदेव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनोभूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ।

१३—बची हुयी सामग्रीकी नीचे लिखे मन्त्रसे ३ आहुतियां दे ।

ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा ।

इति दैनिकाग्निहोत्रविधिः

आर्य समाजके नियम

(१) सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्यासे जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

(२) ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टिकर्ता हैं। उसीकी उपासना करनी योग्य है।

(३) वेद सब सत्य विद्याओंका पुस्तक है। वेदका पढ़ना, पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्योंका परम धर्म है।

(४) सत्यके ग्रहण करने और असत्यके छोड़नेमें सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

(५) सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्यको विचार कर करने चाहिये।

(६) संसारका उपकार करना इस समाजका मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

(७) सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथा-योग्य वर्तना चाहिये।

(८) अविद्याका नाश और विद्याकी वृद्धि करनी चाहिये।

(९) प्रत्येकको अपनी ही उन्नतिमें सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

(१०) सब मनुष्योंको सामाजिक सर्व हितकारी नियम पालन करनेमें परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियममें सब स्वतन्त्र रहें।